चेतना की प्रचंड क्षमता—एक दर्शन

लेखक :

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

श्री वेदमाला गायत्री ट्रस्ट

शांतिकुंज, हरिद्वार (उ० प्र०)

प्रथम बार] 2000 [मूल्य : 21-00 रुपये

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
१. देव मंदिर के देवता और परमात्मा	३
२. प्रचंड पुरुषार्थ का प्रतिफल मनुष्य जन्म	२४
३. अद्भुत और विलक्षण मानवी काया	३८
४. सुविकसित संतान के लिए वैज्ञानिक प्रयास	४६
५. गर्भस्थ शिशु का इच्छानुरूप निर्माण	६६
६. प्रायश्चित्त प्रक्रिया से भागिये मत	८०
७. सद्गुरु हमारे ही काय-कलेवर में	६२

शरीर रचना से लेकर मनःसंस्थान और अंतःकरण की भाव संवेदनाओं तक सर्वत्र असाधारण ही दृष्टिगोचर होता है, यह सोद्देश्य होना चाहिए अन्यथा एक ही घटक पर कलाकार का इतना श्रम और कौशल नियोजित होने की क्या आवश्यकता थी ?

पौधे और मनुष्य के बीच पाये जाने वाले अंतर पर दृष्टिपात करने से दोनों के बीच हर क्षेत्र में मौलिक अंतर दृष्टिगत होता है। विशिष्टता मानवी काया के रोम-रोम में संव्याप्त है। आत्मिक गरिमा पर विचार न भी किया जाय, तो भी मात्र काय संरचना और उसकी क्षमता पर विचार करें तो भी इस क्षेत्र में कम अद्भुत नहीं है।

युगांतर चेतना प्रकाशन

शांतिकुंज, हरिद्वार (उ० प्र०)

देव-मंदिर के देवता और परमात्मा

"स्वर्गादि उच्च लोक, अंतरिक्ष, पृथ्वी, जल आदि की उत्पत्ति हो चुकी तब परमात्मा ने लोकपालों की रचना का विचार किया। इस रचना का विचार आते ही उन्होंने सर्वप्रथम प्रकाश अणु पैदा किये। यह अणु अंडाकार थे और उसमें पुरुष के लक्षण थे, फिर उस अंड में परमात्मा ने छेद किया जो मुख बना, मुख से वाणी, वाणी से अग्नि उत्पन्न हुई। इसके बाद दो छेद किये, जो नासिका कहलाये। उससे प्राण की उत्पत्ति हुई, प्राणों से वायु और नेत्रों के छिद्र बने। उनमें सुनने की शक्ति उत्पन्न हुई, श्रोत्रेंद्रिय के द्वारा दिशायें प्रकटीं, फिर त्वचा उत्पन्न हुई। त्वचा से रोम, रोम से औषधियाँ, फिर हृदय, हृदय से मन और मन से चंद्रमा प्रकट हुआ। फिर नाभि बनी, नाभि से अपान देवता, उससे मृत्यु देवता प्रकट हुए। फिर उपस्थ, उपस्थ से रेत, रेत से जल की उत्पत्ति हुई।"

"इस प्रकार उत्पन्न हुए देवतागण अभी तक अपने सूक्ष्म रूप में थे। परमात्मा ने उनमें भूख और प्यास की अनुभूति भी उत्पन्न कर दी थी, किंतु वे संसार-समुद्र में निराश्रय पड़े थे, उन्हें रहने के लिए योग्य स्थान का अभाव खटक रहा था। उसके लिए उन्होंने परमात्मा से प्रार्थना की, तब परमात्मा ने उन्हें गाय का शरीर दिखाया। उस शरीर को देवताओं ने पसंद नहीं किया। तब फिर उन्हें घोड़े का शरीर दिखाया, वह भी उन्हें अच्छा नहीं लगा। बहुत से शरीर विधाता ने देवताओं को दिखाये, पर वे उन्हें पसंद न आये, तब उसने मनुष्य शरीर दिखाया। यह देवताओं को पसंद आ गया। अग्नि उसमें वाणी बनकर घुस गया, वायु प्राण बनकर नासिका में, सूर्य चक्षु बनकर नेत्र गोलकों में प्रविष्ट हुआ, दिशायें क्षेत्र बनकर कानों में घुसीं, औषधि रोम बनकर त्वचा में पहुँची, चंद्रमा मन बनकर हृदय में स्थित हुआ, मृत्यु अपान बनकर नाभि में, जल (रेत) बनकर उपस्थ में स्थित हो गया।"

"शरीर की यहाँ तक की रचना में पूरी तरह प्रकृति का ही आधिपत्य था, देवताओं की प्रतिष्ठा होने के कारण शरीर देवमंदिर तो बन गया, पर उसमें निवास करने वाली मूर्तियाँ—देवशक्तियाँ एक नहीं—अनेक थीं, सबकी अपनी-अपनी आकांक्षाएँ, अपनी-अपनी वासनाएँ थीं। भगवान् ने विचार किया। यदि इन सभी देवताओं ने केवल अपनी वासनायें तृप्त करनी चाहीं, तब तो यह शरीर एक भी दिन न चल सकेगा। देवतागण उसे नष्ट कर डालेंगे। फिर इनके लिए मेरा भी तो कुछ अस्तित्व होना चाहिए, अन्यथा वे मुझे कैसे जानेंगे ? इस विचार के आते ही उसने मनुष्य शरीर की मूर्धा (शरीर का वह भाग—जहाँ से दाहिने-बायें भाग बराबर-बराबर विभक्त होते हैं, चोटी वाले स्थान से लेकर यह भाग नीचे चूतड़ों तक के सीवन वाले भाग तक चला जाता है।) से प्रवेश किया। अब मनुष्य ने देखा कि मुझ में पंच भौतिक प्रकृति के अतिरिक्त यह बुद्धि रूप में कौन आ गया—तब उसने परमात्मा को पहचाना और उनके दर्शन पाकर स्वर्गीय सुख में विभोर हो गया।"

ऐतरेय उपनिषद् की इस आख्यायिका में जहाँ सृष्टि के विकास का सूक्ष्म विज्ञान भरा पड़ा है, वहाँ ईश्वर दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्वदर्शन भी। सामान्य दृष्टि से देखने पर इंद्रियाँ ही मनुष्य शरीर में सक्रिय दिखाई देती हैं, इसलिए अज्ञानग्रस्त लोग दिन-रात उन्हीं की तृप्ति में जुटे रहकर मनुष्य देह रूपी मंदिर को भग्न और गंदा किया करते हैं। देवताओं को स्थूल पूजा मिलनी चाहिए, पर यदि देवताओं की संतुष्टि ही एक मात्र शरीर का उद्देश्य रह जायेगा तो उस परमात्मा की प्राप्ति के आनंद का क्या होगा ? जो इन सभी शक्तियों को भी उत्पन्न करने वाला आनंद और सृष्टि का मूल है। सारी परिपूर्णतायें तो एक मात्र ब्रह्म में ही हैं, उसे प्राप्त किये बिना आत्मिक सुख कहाँ ?

परमात्मा को कैसे प्राप्त किया जाए ? यह संसार के सामने एक जटिल और गंभीर प्रश्न है ? ऐतरेय उपनिषद् इस प्रश्न की

हलकी दिशा में एक महत्त्वपूर्ण शोध है। इसमें तथ्यों को बड़े सरल ढंग से समझाया गया है, यह बताया गया है कि इंद्रियों की वासनायें मनुष्य की आवश्यकताएँ नहीं वरन् देवशक्तियों की आकांक्षायें होती हैं। मनुष्य तो बुद्धि, ज्ञान और चेतना को कहते हैं। बुद्धि परमात्मा की प्रतिनिधि है अर्थात् मनुष्य देवशक्तियों से ऊपर की सत्ता है। उसे इंद्रियों का स्वामी बनकर देवशक्तियों का लाभ उठाना चाहिए और अपनी बौद्धिक एवं आत्मिक क्षमताओं का विकास करके विराट् ब्रह्म को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही परम पुरुषार्थ है और यही है योग। जो अपनी इंद्रियों का स्वामी बन गया, उसे अपने लघु रूप को विराट् ब्रह्म में परिवर्तित करते देर न लगेगी।

अभी तक यह ज्ञान केवल शास्त्रों तक सीमित था। शास्त्रीय व्याख्याओं से विश्वास उठ जाने के कारण इस तरह के विवेचनों के प्रति अश्रद्धालु होना और इस तरह जीवन-विकास के मूल-ज्ञान से वंचित रह जाना स्वाभाविक ही था। इसे अपना दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि हमारे देशवासी स्वयं इस महत्तम विज्ञान को भूल गये, जिसका प्रतिपादन आज भौतिक-विज्ञान भी करता है।

शरीर विज्ञान मानता है कि मनुष्य का मस्तिष्क इंद्रियों की सामर्थ्य से बड़ा और उनका स्वामी है, अतएव इंद्रियों को नहीं, महत्त्व बौद्धिक शक्तियों को देना चाहिए। इस दृष्टि से मस्तिष्क की बारह नसों और सात शून्य स्थानों (सात-लोक) की शोध एक विशिष्ट महत्त्व रखती है। यह नसें मस्तिष्क के निचले वाले धरातल से निकलती हैं और शरीर के सभी तन्मात्रा अवयवों तक चली जाती हैं।

(१) आलफैक्ट्री नस का संबंध नासिका नली से है, जिससे मस्तिष्क सूँघने की अनुभूति करता है। (२) ऑप्टिक नस नेत्र गोलकों तक चली जाती है और वही मस्तिष्क को सामने वाली वस्तुओं का ज्ञान कराती है। (३) आकुलोमोटर का संबंध भी आँखों से है, इससे पुतलियों को गति मिलती है। (४) ट्रॉक्लियर नेत्र की

मांस-पेशियों को जोड़ने वाली नस है। (५) ट्राइजैमिनल मुख के निचले जबड़े एवं जीभ की मांस-पेशियों से संबंध जोड़ती है और स्वाद आदि की अनुभूति में सहायक होती है। (६) ऐब्ड्यूसेन्ट आँख को बाहर की ओर खींचे रहती है। (७) फेसियल मुख की मांस-पेशियों को। (८) ऑडिटरी—कानों में। (६) ग्लासोफेरिब्जयल स्वरध्वनि यंत्र (लेरिंग्स), जीभ व गले को मस्तिष्क के उस चमत्कारी अवचेतन अंश से जोड़ते हैं। (१०) स्पाइनल ऐक्सेसरी गले की बाहरी ऐच्छिक मांसपेशियों को क्रियाशीलता प्रदान करती है। (११) वेगस अंदर का गला, स्वरध्वनि यंत्र, फेंफड़े, हृदय व पाचन संस्थान को सप्लाई करती है और (१२) हाइपोग्लोसल जीभ की मांस-पेशियों को। इसके अतिरिक्त सुषुम्ना शीर्ष जो कि लगभग संपूर्ण मेरुदंड है, मस्तिष्क का संबंध सीधे प्रजनन केंद्रों से जोड़ती है।

आधुनिक शरीर वैज्ञानिकों का ज्ञान अधिकांश शरीर के स्थूल अवयवों तक सीमित है। चेतना की आंतरिक अनुभूतियों का ज्ञान वे नहीं कर सके, इसीलिए जीवात्मा के दार्शनिक पक्ष को इनमें से कोई भी प्रमाणित करने में आज तक सफल नहीं हुआ है। यही नहीं, इन नसों में कई ऐसी हैं, जिनके यथार्थ उद्देश्य की ही इन वैज्ञानिकों को जानकारी नहीं है। उदाहरणार्थ—आकुलोमोटर का संबंध मस्तिष्क से त्रिकुटी मध्य के उस भाग से है, जहाँ ज्योतिर्लिंग के दर्शन होते हैं, पर शरीर रचनाशास्त्री उसे केवल दोनों पुतलियों से संबंधित मानते हैं। स्पाइनल एक्सेसरी नाभि स्थित सूर्य चक्र (सोलर प्लैक्सस) से संबंधित है और योग विद्या में उसका अपना विशिष्ट महत्त्व है,.पर उसे भी शरीर-रचना शास्त्री नहीं जानते। यहाँ तक कि नाभि जैसे महत्त्वपूर्ण संस्थान के बारे में, जिससे कि गर्भावस्था में सारे शरीर को पोषण मिलता है, वैज्ञानिक कुछ भी नहीं जानते हैं, तो भी यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि उन्होंने इन जानकारियों के आधार पर इतना तो सिद्ध कर ही दिया कि मस्तिष्क ही संपूर्ण इंद्रियों का अधिष्ठान है। यदि

मस्तिष्क नहीं रहता तो इन सभी इंद्रियों को चेतना अपना कारोबार समेटकर उसे नष्ट कर देने में ही जुट जाती और अपनी समस्त सूक्ष्म तन्मात्राओं को मस्तिष्क में ही केंद्रित कर देती, यही मस्तिष्कीय चेतना इंद्रिय सूक्ष्म तन्मात्रायें लेकर मृत्युकाल में शरीर से विदा होकर फिर दूसरी योनियों की तलाश में चली जाती और यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक मस्तिष्कीय द्रव्य प्रकृति के अज्ञान आवरण और इंद्रियों की लिप्साओं को स्वच्छ नहीं कर लेता। यजुर्वेद में इसी तथ्य को दोहराते हुए ऋषि ने लिखा है—

यस्य प्रयाण मन्वन्यऽ इद्ययुर्देवा देवस्य महिमान मोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजाँसि देवः सविता महित्वना।

—यजुर्वेद ११।६

अर्थात्—दूसरे सभी देवता (इंद्रियाँ) जिस देवता (जीवात्मा) के आधीन गति करती हैं। जब जीवात्मा शरीर त्याग देता है तो उसी के आधीन चली जाती हैं। जिस देवता (जीवात्मा) की यह ओजस्-शक्तियाँ उन्हीं के अनुरूप बन जाती हैं। यह श्रेष्ठ योनियों को प्राप्त होकर मुक्ति का स्वामी बनता है अन्यथा निम्नगामी योनियों में चला जाता है। इस प्रकार जीवात्मा के बड़प्पन के लिए प्राप्त हुई इंद्रियाँ ही उसे दुर्गति में ले जाने वाली अथवा मुक्ति में सहायक होती हैं।

इंद्रियाँ स्ववश नहीं होतीं—यह कहना गलत है। ऐसा कहने की अपेक्षा यह कहना चाहिए कि हमने अपने मानसिक संस्थान को प्रखर नहीं बनाया। मनुष्य के मस्तिष्क की शक्ति अपार है, हम उसका जागरण कर पायें तो सचमुच ही ब्रह्म की सारी शक्तियों की अनुभूति शरीर में ही कर सकते हैं। साधारण अभ्यास से ही मस्तिष्क की शक्तियों का विकास होता देखा गया है, योग-प्रक्रिया तो उससे कहीं लाखों गुना उच्चस्तरीय विज्ञान है। ओहियो यूनिवर्सिटी में मनोविज्ञान के एक परीक्षण में अभ्यास से विद्यार्थियों

में एक मिनट में २३० शब्दों से बढ़कर ५०० शब्द प्रतिमिनट पढ़ने की क्षमता का विकास हुआ। अमेरिकी प्रेसीडेंट रूजवेल्ट का सेक्रेटरी जेम्स ए० फेचरली ने अपनी याददास्त का इतना विकास किया था कि वह २०००० व्यक्तियों से परिचित था और सबके बारे में सैकड़ों बातें जानता था। जर्मन मैथमैटीशियन जकेरियस से एक बार एक प्रदर्शन में पूछा गया कि २-२ का १०० बार गुणा करने से कितना गुणनफल आयेगा, तो उसका उत्तर उसने प्रश्नकर्ता का वाक्य पूरा होते ही दे दिया, मानो उसके मस्तिष्क में वह सब कुछ पहले से लिखा था। वैज्ञानिक मानते हैं कि हम सारे जीवन में मस्तिष्क के कुल १७ प्रतिशत भाग से काम लेते हैं—शेष ८३ प्रतिशत के बारे में वैज्ञानिक तक कुछ नहीं जानते।

रीडर डाइजेस्ट में "आपके मस्तिष्क की सीमा क्या है" (ह्वाट इज दि लिमिट ऑफ योर माइंड) शीर्षक से अर्डिस ह्विटमैन ने एक लेख छापा था, उसमें उन्होंने लिखा है कि सारे संसार में जितनी भी विद्युत् और विद्युत् उपकरणों की सामर्थ्य है, उसे पूरी तरह इकट्ठा करके तराजू के एक पलड़े पर रख दिया जाये और दूसरी तरफ मस्तिष्क का ३ पिंट (एक पिंट डेढ़ पाव के बराबर होता है) ग्रे मैटर का (मस्तिष्क का भीतरी भाग) रखकर तौला जाये तो ग्रे मैटर की शक्ति कहीं अधिक होगी।

यह केवल सैद्धांतिक कथा मात्र नहीं है, इस पर प्रयोग हुए हैं और प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि मस्तिष्क के इस भूरे द्रव्य (ग्रे मैटर में) वह सारे गुण विद्यमान हैं, जो परमात्मा में होने की कल्पना की जाती है। ईश्वर के बारे में मान्यता है कि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वद्रष्टा, अजर, अमर, सनातन आदि हैं। पूर्ण विकसित मस्तिष्क में वह सारे लक्षण हो सकते हैं—वैज्ञानिक प्रयोगों से यह भी स्पष्ट हो गया है। इन चमत्कारों पर मैकगिल यूनिवर्सिटी मांट्रियल में डॉ० विल्डर पेनफील्ड के निर्देशन में खोज चल रही है। उनकी खोजें आज नहीं तो कल पूर्णरूप से भारतीय दर्शन को प्रमाणित करेंगी।

यह प्रयोग मस्तिष्क के चमत्कारी केंद्रों की विद्युत् शक्ति बढ़ाकर किये गये हैं। एक रोगी को इलेक्ट्रोड के द्वारा मस्तिष्क के दृश्य भाग को स्पर्श कराया गया तो उसने बताया कि—"मैं सारे आकाश को देख रहा हूँ। बड़े-बड़े तारागण घूम रहे हैं, कितने ही उल्कापात हो रहे हैं।" आकाश की यह भयंकर हलचल देखते ही वह भयभीत हो उठा। शायद उसकी स्थिति गीता में भगवान् के विराट् रूप देखने वाले अर्जुन की-सी हो गई हो। इसके बाद उसके श्रवण केंद्र की शक्ति बढ़ाई गई तो उसने अजीब ध्वनियाँ सुनीं और यह सिद्ध कर दिया कि हम जो ध्वनियाँ अपने आस-पास सुना करते हैं वही नहीं, सृष्टि के अंतराल में ग्रह-नक्षत्रों के परिभ्रमण आदि की आकाश-गंगाओं के विस्फोट आदि की भी भयंकर ध्वनियाँ सुनाई दे रही हैं। इसके बाद एक और आश्चर्यजनक स्थान में इलेक्ट्रोड स्पर्श कराया गया तो रोगी एकाएक हँस पड़ा और बोला—"अरे, यह तो मेरी माँ का कमरा है, वह पियानो रखा है, मेरी माँ इधर ही आ रही है, वह कोई कपड़ा निकालकर पहन रही है। कपड़े का रंग है हरा। वह अब नौकर को बुलाकर कार निकालने को कह रही है।" पीछे फोन करके उसके घर वालों से पूछा गया तो सारी घटना ठीक वैसी ही थी जैसी रोगी ने बताई थी। इन प्रयोगों में वर्षों पूर्व के दृश्य और शब्द मस्तिष्क में ज्यों के त्यों सुने गये हैं।

यह खोजें इस बात की प्रमाण हैं कि बुद्धि और मस्तिष्क सचमुच ही ईश्वरीय चेतना के प्रतिनिधि हैं। हम उस शक्ति को तुच्छ इंद्रिय सुखों में खर्च न करके केवल मस्तिष्क को ही प्रखर बनाने में जुट जायें तो अपने आप में ब्रह्म की अनुभूति कर लेना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ऋषियों की अलौकिक शोध आज भी उतना ही आनंद, वही उपलब्धियाँ दे सकती है, पर यह तभी संभव है जब लोग इंद्रियों के गुलाम नहीं, स्वामी बनकर उस शक्ति का क्षय रोकें, जो मस्तिष्क को वैसे ही प्रखर बनाकर विराट् की

अनुभूति कराती हैं जैसे विल्डर पेनफील्ड इलेक्ट्रोड से अतिरिक्त विद्युत् शक्ति देकर क्षणिक अनुभूति कराते हैं।

बुद्धि और मस्तिष्क तो शरीर संस्थान का एक छोटा अंग अवयव मात्र है। इसके अलावा हमारे शरीर में जो दूसरी इकाइयाँ हैं, वे कम विलक्षण और अद्‌भुत नहीं हैं। बाहर से दिखाई देने पर कोई अंग भले ही कितना भी साधारण लगे परंतु उसका महत्त्व और कार्य अपने आप में इतना मूल्यवान् तथा विलक्षण है कि उसकी तुलना अन्य किसी भी वस्तु से नहीं की जा सकती।

उदाहरण के लिए त्वचा को ही लें। त्वचा यों बाहर से देखने में आवरणमात्र लगती है। पर गहराई से देखने में उसका कण-कण विशेषताओं से भरा है। शरीरशास्त्री उसे काया का संरक्षक आवरण मानते हैं। सौंदर्यशास्त्री उसी के आधार पर रंग-रूप का लेखा-जोखा लेते हैं, पर आत्मवेत्ताओं की दृष्टि में वह सबसे प्रबल और सबसे विस्तृत इंद्रियाँ हैं। आँख, कान, नाक आदि तो सीमित स्थान ही घेरे हैं, पर त्वचा सारा शरीर ही आच्छादित कर रखा है। उसका शासन विस्तार एवं क्रियाकलाप संपूर्ण शरीर को प्रभावित करता है।

जननेंद्रिय की गणना पृथक् इंद्रिय में न करके उसे स्पर्शेंद्रिय के रूप में त्वचा परिधि में ही गिना गया है। कारण कि इसी की संवेदनशीलता जननेंद्रिय में एक विशेष स्पर्श-संवेदन उत्पन्न करती है। कोमलता का आनंद त्वचा ही लेती और देती है। स्नेही स्वजनों का स्पर्श, चुंबन, आलिंगन त्वचा के माध्यम से होता है। उसकी संवेदनशीलता ही स्पर्श में अंतःकरण को गुदगुदा देती है। भाव विभोर स्थिति में बिछुड़े हुए प्रिय पात्र को अथवा सफल स्वजन को हर्षातिरेक में छाती से लगाये बिना चैन नहीं पड़ता। बालक को अभिभावकों का गोदी में लेना केवल शारीरिक कारणों से ही सुखद नहीं होता, वरन् उस स्पर्श सुख में आंतरिक आनंद की चेतनात्मक अनुभूति भी जुड़ी होती है। त्वचा इंद्रिय हमारे भाव संस्थान को कम प्रभावित नहीं करती। इसलिए उसे अवांछनीय स्पर्श से बचाया

जाता है और वांछनीय स्पर्श के लिए प्रयत्नपूर्वक सचेष्ट रहा जाता है।

भारतीय संस्कृति में छूत-छात के तत्त्व मौजूद हैं। आज तो वह जाति-पाँति के आधार पर उलट गया, पर प्राचीन काल में यह सिद्धांत वांछनीयता और अवांछनीयता की दृष्टि से प्रयुक्त होता था। दुष्ट, दुराचारियों को अस्पर्श मानने का तात्पर्य था उनकी दुष्ट प्रकृति के साथ जुड़ी हुई संवेदना के आक्रमण से अपने को बचाना। गुरुजनों के चरण-स्पर्श करने, उनके पैर दबाने की प्रक्रिया मात्र सम्मान सूचक ही नहीं, वरन् इसमें उनकी महानता को अपने हाथों के माध्यम से ग्रहण करना भी है। शिष्य, पुत्र आदि अपने गुरुजनों के अक्सर पैर छूते या पैर दबाते हैं। उसमें थकान मिटाना कारण नहीं, वरन् जिस तरह गाय का दूध दुहा जाता है, उसी तरह उनके शक्ति प्रवाह को लेकर अपने अंदर भरना ही प्रमुख लाभ है।

साधारणतया इतना ही समझा जाता है कि धूप-वर्षा से बचाव करने के लिए जिस तरह छाता लगाया जाता है उसी तरह त्वचा भी बाहरी ऋतु प्रभावों से लेकर विकिरण विभावों तक को रोकती है, अपने ऊपर सहन करती है। वह एक सुसज्जित वस्त्र की तरह है, जो आंतरिक अवयवों को ढकने के अतिरिक्त बाहर की शोभा-सुसज्जा भी रखता है। ईश्वर के दिये हुए इस परिधान से बढ़कर मनुष्यकृत कोई पोशाक हो ही नहीं सकती।

जहाँ तक सौंदर्य का प्रश्न है—उसे त्वचा का सौंदर्य ही कहना चाहिए। वस्त्र कितने ही कीमती और आकर्षक क्यों न हों, वे तभी शोभा पाते हैं—जब हाथ-पैर, मुख आदि अंगों के नग्न प्रदर्शन में अवरोध उत्पन्न करें। नारी अंगों को तो चित्रकार से लेकर मूर्तिकार तक यथासंभव निर्वस्त्र रखने का प्रयत्न करते हैं। सिनेमा और नृत्यों में सबसे बड़ा आकर्षण त्वचा का अधिकाधिक भाग निर्वस्त्र देखने का होता है। मनुष्य स्वभाव में यह जुगुप्सा इतनी अधिक बढ़ी है कि अमर्यादित नग्नता और अश्लीलता को

प्रतिबंधों से जकड़कर उसे कानून द्वारा अवांछनीय घोषित करना पड़ा। निस्संदेह त्वचा के दर्पण से ही मनुष्य का सौंदर्य मुखरित होता है।

त्वचा की सामर्थ्य और महत्त्व

वस्त्रों से लादकर त्वचा को दुर्बल बना दिया जाए, यह बात दूसरी है, अन्यथा वह शीत-ताप से प्राणी की रक्षा करने में पूर्णतया समर्थ है। इस धरती के सभी जीव-जंतु, जलचर, थलचर, नभचर इसी पोशाक के बलबूते अपनी जिंदगी मजे में काट लेते हैं। उन्हें अतिरिक्त वस्त्र पहनने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आदिम मनुष्य भी नंगे ही रहते थे। सभ्यता की बात चली तो नर-नारी जननेंद्रिय ढकने तक की आवश्यकता अनुभव करने लगे। अभी भी वन्य प्रदेशों के निवासी न्यूनतम वस्त्र पहनते हैं, त्वचा ही उनके शरीर को ऋतु प्रभाव से बचाती है। कितने ही संत, तपस्वी भी नंगे रहते हैं। बहुत हुआ तो मिट्टी या राख की एक परत और ऊपर से मल लेते हैं। इस दुहरे आवरण से वे और भी आसानी से ऋतु प्रभाव सहन कर लेते हैं।

चेहरे को सदा खुला ही रखा जाता है। हाथ-पैरों में तो मोजे भी पहन लिये जाते हैं, पर नाक, मुँह, आँख, गाल आदि पर तो कोई मोजे भी नहीं पहने जाते। वहाँ की त्वचा खुली ही रहने की अभ्यस्त रहने से शीत-ताप आदि की शिकायत नहीं करती—न वस्त्रों की माँग करती है, न ऋतु प्रभाव से प्रभावित होती है, अभ्यस्त त्वचा शरीर का संरक्षण कर सकने में पूरी तरह समर्थ है। वस्त्रों ने उसका कुछ उपकार नहीं किया, वरन् दुर्बल और परावलंबी ही बनाया है।

शरीर पर चमड़ी का क्षेत्रफल लगभग २५० वर्ग फुट होता है। वजन ६ पौंड। सबसे पतली वह पलकों पर होती है। .५ मिली मीटर पैर के तलवों में सबसे मोटी होती है ६.०० मिली मीटर। साधारणतया उसकी मोटाई ०.३ से लेकर ३०० मिली मीटर की होती है। उसमें बारीक-बारीक अगणित छेद होते हैं, जो खुर्दबीन

की सहायता से देखे जा सकते हैं। औसतन इन छेदों से दिन-रात में १० छटाँक पसीना बाहर निकलता है। गर्मी पड़ने पर या अधिक परिश्रम करने पर जब शरीर का इंजन गरम हो उठता है तो उसे ठंडा करने के लिए स्वेद ग्रंथियाँ तेजी से पसीना बाहर निकालती हैं और बदन ठंडा कर देती हैं। पर सर्दियों में शरीर को गरम रखने की जरूरत पड़ती है इसलिए वे छेद सिकुड़ जाते हैं। भीतर की गर्मी रुकी रहती है और ठंड से बचाव हो जाता है। इस तरह त्वचा की संरचना शरीर को "एयर कंडीशन" बनाये रहती है।

त्वचा-छिद्र पसीना ही नहीं निकालते, वे एक प्रकार से साँस भी लेते रहते हैं। वाष्प की तरह कुछ चीजें बाहर निकलती रहती हैं और जरूरत की चीजें भीतर घुसती रहती हैं। इस तरह छोटे छेद एक प्रकार से नाक के छोटे-बड़े छेदों का भी काम करते हैं। यदि यह छेद सर्वथा बंद हो जाएँ तो आदमी घुटकर मर जाएगा। पुराने-जमाने में अपराधी को मौत की सजा देने का एक तरीका यह भी था कि उसके शरीर पर मोम पोत दिया जाता था, हाथ बँधे होने से वह उसे हटा नहीं सकता था और त्वचा का श्वास बंद हो जाने पर घुट-घुटकर मर जाता था। एक बार एक लड़के के शरीर पर सीरा पोतकर रुई चिपकाई गई और लँगूर का स्वाँग बनाया गया। त्वचा छिद्र बंद हो जाने से लड़का थोड़ी ही देर में बेहोश हो गया और अस्पताल पहुँचते-पहुँचते मर गया। जो लोग स्नान की उपयोगिता नहीं समझते, चिह्न पूजा का स्नान करते हैं, चमड़ी पर मैल की परतें जमने देते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि यह गंदी आदत स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत ही अहितकर है।

साँप की केंचुली सबने देखी है। मनुष्य की त्वचा भी केंचुली बदलती है, पर उसका क्रम बहुत हलका और धीमा होने से दिखाई नहीं पड़ता। किसी बीमार के बहुत दिन तक चारपाई पर पड़े रहने के बाद उसकी चमड़ी पर से भूसी उतरती देखी जाती है। सिर में भी अक्सर भूसी जमती रहती है। शरीर को रगड़ने पर मैल की तरह से भी केंचुली के अंश रहते हैं। हमें दिखाई भले ही

न दें, पर चमड़ी की कोशाएँ मरती रहती हैं और उनका स्थान नई ग्रहण करती रहती हैं। इस प्रकार केंचुली बदलने का क्रम चलता रहता है। साँप ही नहीं मनुष्य भी केंचुली बदलता है।

त्वचा के भीतर बिखरे हुए ज्ञान तंतुओं की लंबाई ४५ मील कूती गई है। यह शरीर को स्पर्श होने वाले अनुभवों को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के तंतु भी हैं, जो दृश्य, गंध, ध्वनि, दबाव, स्वाद, सर्दी-गर्मी की अनुभूतियाँ नाक, कान, आँख, जीभ आदि ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से विशिष्ट प्रकार की अनुभूतियाँ कराने में योगदान करते हैं।

त्वचा में एक विशेष तैल रहता है, जो "कोरियम" कहलाता है। शरीर पर इसी चिकनाई की चमक रहने से सौंदर्य बढ़ता है और तेजस्विता झलकती है। इसी प्रकार त्वचा की रंजक कोशिकाऐं 'मेलानिन' नामक रंग उत्पन्न करती हैं। इन्हीं के कारण गोरा, काला, गेहुँआ, पीला आदि रंग मनुष्य का होता है।

चोट लग जाने पर क्षत स्थल की पूर्ति करने के लिए समीपवर्ती पड़ौसी पदार्थ दौड़ पड़ते हैं और वह घाव जल्दी भर देते हैं। योगसाधना के षट्चक्रों की तरह त्वचा की छह परतें हैं—(१) स्ट्रेटम कोर्नियम—सबसे ऊपर की। (२) स्ट्रेटम ल्यूसीडम—पारदर्शी। (३) स्ट्रेटम—ग्रैन्यू—लोसम—मूर्छित। (४) स्ट्रेटम एस्यूलीटम—अपेक्षाकृत मोटी परत। (५) स्ट्रेटम पेसेल—क्षति पूरक। (६) कोरियम या डर्मिस—सहायक। हाथ-पैरों के पोरवे, हथेली, तलवे आदि पर जहाँ-तहाँ जो मोटी गद्दी-सी पाई जाती है—उसे पेपिली कहते हैं।

त्वचा परतों में कितनी वस्तुएँ विद्यमान हैं—(१) केश ग्रंथि, (२) स्वेद ग्रंथि, (३) तैल ग्रंथि, (४) बाह्य त्वचा, अंतःत्वचा, (५) स्नायु, (६) मज्जाकोष, (७) रक्त नलियाँ इनमें से मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त अधिक गहराई से जानने पर उनमें और भी बहुत कुछ मिलेगा।

यह त्वचा संबंधी शारीरिक जानकारी हुई। चेतनात्मक परिचय यह है कि बाह्य वस्तुओं को स्पर्श करके मस्तिष्क तक उसकी जानकारी पहुँचाने का अति महत्त्वपूर्ण कार्य त्वचा का ही है। संसार में व्यक्ति का संबंध बनाने—वस्तुओं को शरीर के साथ जोड़ने, मिलाने का कार्य उसी के द्वारा संपन्न होता है। अतएव उसे अन्य समस्त इंद्रियों से अधिक व्यापक और समर्थ बनाया गया है। त्वचा में इतनी अद्‌भुत शक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि यदि उन्हें विकसित कर लिया जाए तो वह अन्य समस्त ग्रंथियों का काम कर सकती हैं। त्वचा से देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, सूँघा जा सकता है, चखा जा सकता है। स्पर्श सुख तो उसका प्रधान कार्य है—मैथुन ही नहीं—काम-स्पंदन के अन्य प्रकार भी लगभग उसी के द्वारा अनुभव होते हैं और हलचल मचाने वाली अंतःस्थिति उत्पन्न करते हैं।

त्वचा अन्य इंद्रियों का भी कार्य कर सकने में समर्थ है। मूलतया यह शक्ति उसमें पूरी तरह विद्यमान है। काम में न आने से ही वह प्रसुप्त पड़ी है। योग साधनाओं द्वारा यदि त्वचा की संवेदनशीलता बढ़ा ली जाए तो अन्य इंद्रियों की शक्ति बचाकर त्वचा से ही काम चलाया जा सकता है। वह बची हुई अन्य इंद्रियों की शक्ति अन्य उपयोगी कार्यों में खर्च हो सकती है। जिनकी कोई इंद्रिय नष्ट हो गई है, वे अभ्यास करके त्वचा से ही उस प्रयोजन को पूरा कर सकते हैं। नेत्रों का काम त्वचा कर सकने में समर्थ है। इस संबंध में रूस में लगातार कई उदाहरण सामने आये हैं और वहाँ इस संबंध में काफी खोज भी हो रही है।

त्वचा के पारदर्शी परत केवल आर-पार दिखाने वाली ही नहीं हैं, वे एक्सरे का काम करती हैं। यदि उन्हें विकसित किया जा सके तो एक्सरे यंत्र के स्थान पर अपनी त्वचा के संस्पर्श से ही अज्ञात और अदृश्य का एक बड़ा भाग हमारी जानकारी में आ सकता है।

कुछ समय पूर्व मास्को में एक टेलिविजन कार्यक्रम पर यह दिखाया गया था कि किस प्रकार बिना आँखों की सहायता के मात्र स्पर्श से देखने का काम लिया जाना संभव है। निझनी तगिन की २२ वर्षीया कुमारी रोजा कुलेशोवा ने अपने दाहिने हाथ की तीसरी-चौथी उँगली में दृष्टि शक्ति की विद्यमानता का परिचय दिया। आँख में मजबूत पट्टी बँधवाकर वैज्ञानिकों की उपस्थिति में उसने इन दो उँगलियों के सहारे अखबार का एक पूरा लेख पढ़कर सुनाया और फोटो चित्रों को पहचाना। इससे रूसी वैज्ञानिकों के शरीर में संव्याप्त चेतना को बहुमुखी प्रयोजन पूरा कर सकने की क्षमता का ज्ञान हुआ और नृतत्व विज्ञान को एक नई शोध करने की दिशा मिली।

अभी उस अध्याय में एक कड़ी और जुड़ी है। कितने ही लोगों ने तलाश किया कि क्या उनमें या उनके कुटुंबियों में भी कोई इंद्रियातीत शक्ति है ? इस खोज में इस वर्ष एक ६ वर्षीय लड़की और प्रकाश में आई है, जिसने रोजा कुलेशोवा की अपेक्षा और भी अधिक लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया।

संवाददाता निकोलाई स्वितेको के अनुसार खार्कोव की श्रीमती ओल्गा ब्लिजनोवा ने अपनी ६ वर्षीय पुत्री में यह प्रतिभा और भी अधिक बढ़ी-चढ़ी पाई तो उसने सोवियत विज्ञान एकादमी के सम्मुख उसे पेश किया और कई तरह के अद्‌भुत परीक्षण कराये। बिछी हुई शतरंज पर से उसने काली और सफेद गोटें छाँटकर अलग कर दीं। इसके बाद रंग-बिरंगे कागजों की कतरनें उसने तरतीबवार छाँटी, परिचित लोगों के फोटो पहचाने। बच्ची कम पढ़ी थी सो उसे बच्चों वाली रंगीन किताबें दी गईं और उसने उन्हें हाथ से छूकर ठीक तरह पढ़ दिया।

इसके बाद और भी कठिन परीक्षा शुरू हुई। उँगलियों के अतिरिक्त क्या शरीर के किसी अन्य भाग में भी ऐसी शक्ति है—इसका परीक्षण किया गया तो वह बात भी सही निकली। उसने बाँह, कंधा, पीठ, पैर आदि से छूकर भी वैसा ही अनुभव प्रस्तुत किया

जैसा हाथ से छूकर करती थी। क्या चीजों को बिना छुए भी इस तरह की पहचान की जा सकती है ? इस परीक्षण में पाँच सेंटीमीटर दूर रखी चीजों तक को उसने उँगली के पोरवों की सहायता से पढ़ लिया। ६ महीने बाद उसने दूसरी तैयारी में और भी अधिक दूर पर रखी हुई चीजों को देखने और कागजों को पढ़ने मे सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार उसने पैर की उँगलियों से छूकर कितनी ही वस्तुओं का सही-सही परिचय बताया।

रूस के वैज्ञानिकों का ध्यान तब से इस दिशा में अधिक गया है और उन्होंने उस संबंध में लगातार शोध कार्य किया है।

मनोविज्ञान शाखा के वरिष्ठ शोधकर्ता प्रो० कोन्स्टाटिन प्लातोनोव ने कहा है—"मानवीय चेतना विद्युत् की व्यापकता को देखते हुए इस प्रकार की अनुभूति अप्रत्याशित नहीं है। नेत्रों में जो शक्ति काम करती है, वही अन्यत्र ज्ञान-तंतुओं में विद्यमान है, उसे विकसित करने पर मस्तिष्क को वैसी ही जानकारी मिल सकती है जैसी आँखों से मिलती है।"

प्रो० एलेक्जोदर स्मिर्नोव ने कहा है कि—"यह कोई अलौकिक बात नहीं है, वरन् सामान्य विज्ञान सम्मत सिद्धांतों का ही एक दिलचस्प प्रतिपादन है। एक अंग की चेतना दूसरे अंगों में भी काम कर सकती है।"

निझोरी तागिल पैडागोगीकल इन्स्टीट्यूट के रीडर नोवोमोइस्की ने अपने अनेक छात्रों में इस तरह की विशेषता को ढूँढ़ा तो कुछ छात्राएँ ऐसी मिल गईं, जिनमें एक सीमा तक इस तरह की शक्ति मौजूद है। उसे बढ़ाने पर सफलता की मात्रा अधिक बढ़ने की भी आशा की गई है। इस तरह की क्षमता अन्य अंगों की अपेक्षा दाहिने हाथ की उँगलियों में अधिक पायी गई है और लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में यह अतींद्रिय तत्त्व अधिक हैं। आयु बढ़ने के साथ ज्ञान तंतुओं में कठोरता आ जाती है उसके कारण बड़ी उम्र में शरीर उतना संवेदनशील नहीं रह जाता फलस्वरूप ऐसे अनुभव प्रौढ़ वर्ग में दृष्टिगोचर नहीं होते।

त्वचा का महत्त्व यदि समझा जाए तो वह अति महत्त्वपूर्ण माध्यम सिद्ध होगी। अन्य समस्त इंद्रियों का तो वह कार्य कर सकने में समर्थ है ही, साथ ही अंतःचेतना को विकसित एवं परिवर्तित करने में उसका और भी ऊँचा उपयोग है। साधना विज्ञान में त्वचा साधना को "स्पर्शास्पर्श" कहते हैं, इसका क्षेत्र अतिव्यापक, विस्तृत और प्रभावोत्पादक माना गया है।

हमारी रक्त संपदा कितनी मूल्यवान्

जिसे हम रक्त के नाम से जानते हैं मोटेतौर पर वह लाल रंग का पानी है, जो नस-नाड़ियों में ऐसे ही मनमौजी घुमक्कड़ की तरह घूमता-फिरता रहता है। यदि बारीकी से देखा जाए तो किसी देश या नगर की जल व्यवस्था की तरह रक्तसंचार प्रक्रिया भी अनेकानेक गुत्थियों को सुलझाती हुई, व्यवधानों का निराकरण करती हुई ही गतिशील हो रही है। उसकी गतिविधियाँ देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

सारे शरीर में रक्त की एक परिक्रमा प्रायः डेढ़ मिनट में पूरी हो जाती है। हृदय और फेफड़े के बीच की दूरी पार करने में उसे मात्र ८ सैकंड लग जाते हैं, जबकि उसे मस्तिष्क तक रक्त पहुँचने में ८ सैकंड लग जाते हैं। रक्त प्रवाह रुक जाने पर हृदय भी ५ मिनट जी लेता है, पर मस्तिष्क तीन मिनट में ही बुझ जाता है। हृदय फेल होने की मृत्युओं में प्रधान कारण धमनियों से रक्त की सप्लाई रुक जाना ही होता है। औसत दर्जे के मनुष्य शरीर में पाँच से छह लीटर तक खून रहता है। इसमें से ५ लीटर तो निरंतर गतिशील रहता है और एक लीटर आपत्तिकालीन आवश्यकता के लिए सुरक्षित रहता है। २४ घंटे में हृदय को १३ हजार लीटर खून का आयात-निर्यात करना पड़ता है। १० वर्ष में इतना खून फेंका-समेटा जाता है, जिसे यदि एक बारगी इकट्ठा कर लिया जाए तो उसे ४०० फुट घेरे की ८० मंजिली टंकी में ही भरा जा सकेगा। इतना श्रम यदि एक बार ही करना पड़े तो उसमें इतनी शक्ति लगानी पड़ेगी जितनी कि दस टन बोझ जमीन से

५० हजार फुट तक उठा ले जाने में लगानी पड़ेगी। शरीर में जो तापमान रहता है, उसका कारण रक्त प्रवाह के कारण उत्पन्न होने वाली ऊष्मा ही है।

अपने चार वर्ण और चार आश्रमों की तरह रक्त के भी चार वर्ण हैं। भगवान् मनु ने मनुष्य जीवन की क्रम व्यवस्था इन चार भागों में की थी। लैंड स्टीनर ने रक्त की चार श्रेणियों का रहस्योद्‌घाटन किया था। सब मनुष्यों का रक्त एक जैसा नहीं होता, इनके बीच कुछ रासायनिक भिन्नता रहती है। इसी को ध्यान में रखते हुए उसे (१) ए० (२) बी० (३) ए० बी० (४) ओ० इन चार नामों से वर्गीकरण किया है। किसी की नसों में किसी का रक्त चढ़ाने से पहले यह विधि-वर्ग मिला लिया जाता है अन्यथा भिन्न रक्त चढ़ा देने से रोगी भयंकर विपत्ति में फँस जाएगा और मृत्यु-संकट सामने आ खड़ा होगा।

हमारा रक्त लाल रंग का एक गाढ़ा तरल पदार्थ है, जो हवा लगने पर जम जाता है। उसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) तरल पदार्थ—प्लाज्मा (२) ठोस कण—सार तत्त्व। प्लाज्मा, रक्त में ५५ प्रतिशत होता है, इसे भूरे, पीले रंग के पानी जैसे शकल में देखा जा सकता है। उसमें नमक, ग्लूकोज, प्रोटीन आदि घुले रहते हैं। कुछ ठोस पदार्थ उसमें घुल नहीं पाते और तैरते रहते हैं। इन ठोस कणों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं— (१) एरिथ्रोसाइट—खून के लाल कण (२) ल्यूकोसाइट—खून के सफेद कण (३) प्लेटलेट—खून की पपड़ियाँ।

लाल कण शरीर के प्रत्येक अंश, तंतु और कोष को आहार एवं ऑक्सीजन पहुँचाते हैं, मल रूप निकली कार्बन डाइ ऑक्साइड गैस को ढोकर फेंफड़ों तक ले जाते हैं, ताकि वहाँ से साँस द्वारा उसे बाहर निकाला जा सके।

सफेद कण वस्तुतः कोषाणु हैं। उनकी संख्या कम ही होती है, ६५० लाल कणों के पीछे एक। इन्हें शत्रु रोगाणुओं से लड़ने वाला सैनिक कहा जा सकता है। शरीर के किसी भाग में यदि

रोगकीट हमला कर दें तो यह श्वेत कण उनसे लड़ने को तत्काल जा पहुँचते हैं। आवश्यकता के समय अपनी जाति वृद्धि कर लेने की इनमें अद्भुत क्षमता है।

रोगों के कीटाणु हवा, पानी, आहार, छूत या चोट आदि के माध्यम से शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। वे इतने भयंकर होते हैं कि देखते-देखते सारे शरीर पर कब्जा कर सकते हैं और किसी को भी रोगग्रस्त करके मौत के मुँह में धकेल सकते हैं। ईश्वर को लाख धन्यवाद कि इस रोग कीटाणुओं से भरे शत्रुओं के चक्रव्यूह में आत्मरक्षा करने के लिए हमें श्वेत कणों की सुदृढ़ सेना दी है। यदि यह न मिली होती तो पग-पग पर मृत्यु संकट सामने खड़ा रहता।

श्वेत कोषाणु रोगाणुओं से अधिक प्रबल होते हैं और वे शत्रुओं को मार-काटकर धराशायी करने में प्रायः सफल ही रहते हैं। इस युद्ध में उनमें से भी बहुतों को शहीद होना पड़ता है। मृत श्वेत कणों के ढेर को सफेद पीब के रूप में देखा जा सकता है; वह चमड़ी तोड़कर बाहर निकलता है। अपनी विशेषताओं के आधार पर उन श्वेत कणों की भी कई जातियाँ होती हैं। यथा—न्यूट्रोफिल, ईओसिनोफिल, बेसोफिल, लिंफोसाइट, मोनोसाइट आदि। इनका आवश्यकता से अधिक बढ़ जाना या घट जाना भी चिंता का विषय है। इनकी असाधारण वृद्धि 'ल्यूकोसाइटोसिस' और कभी 'ल्यूकोपेनिया' कहलाती है।

साधारणतया प्रतिघन मिलीमीटर रक्त में ५ से १० हजार तक श्वेत कण होते हैं। पर कभी-कभी यह संख्या बढ़कर ढाई लाख तक जा पहुँचती है, तब यह वृद्धि आत्मघाती सिद्ध होती है। कैंसर की संभावना बढ़ जाती है।

रक्त रस-प्लाज्मा में ६० प्रतिशत जल और १० प्रतिशत में चर्बी, हारमोन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन डाइ ऑक्साइड आदि पदार्थ मिले होते हैं। इन हल्के पीले रंग के तरल पदार्थ में लाल और श्वेत रक्त कणिकाएँ तथा बिंबाणु तैरा करते हैं। लाल रक्त कण इतने छोटे होते हैं कि वे ३००० की संख्या में सीधे एक

लाइन में रख दिये जाएँ तो एक इंच से भी कम लंबाई होगी। युवा मनुष्य के शरीर में २५,०००,०००,०००,००० लाल रक्त कण होते हैं, वे चार महीने जीवित रहकर मर जाते हैं और उनका स्थान लेने के लिए नये पैदा हो जाते हैं।

रक्त की चाल धमनियों में प्रतिघंटा ६५ कि० मी० की है। रक्त कणिकाएँ लौह और ऑक्सीजन से मिलकर बने पदार्थ हीमोग्लोबिन—अपने साथ प्रोटीन, प्राणवायु आदि अपने पोषक पदार्थ अपने ऊपर लादकर चलता है और उस खुराक को शरीर के कण-कण तक पहुँचाता है। उसे दुहरा काम करना पड़ता है। इधर से उपयोगी पदार्थों का पहुँचाना, उधर से कार्बन डाइ ऑक्साइड तथा दूसरी हानिकारक गंदगियों को समेटकर फेफड़े द्वारा बाहर निकाल दिये जाने के लिए उन तक पहुँचाना, यह दुहरी ढुलाई उसे करनी पड़ती है। अपने काम को रक्त द्रुत प्रगति से करता है। पोषण पहुँचाने तथा गंदगी साफ करने के रसोई महाराज और सफाई जमादार की दुहरी ड्यूटी देने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती।

लाल रक्त कणिकाएँ प्रायः ४ महीने में लगभग १५०० चक्कर सारे शरीर के लगा देने के बाद बूढ़ी होकर मर जाती हैं। तिल्ली के जिम्मे उनका अंत्येष्टि संस्कार करना और लाश को तोड़-फोड़कर मल द्वारों से बाहर निकालने की व्यवस्था उसी को जुटानी पड़ती है। हमारा छोटा सा शरीर वस्तुतः बहुत बड़ा है। एक पूरी पृथ्वी के बराबर जीवधारी उसमें रहते हैं। इसलिए उसके व्यवस्था कर्मचारियों की संख्या भी लगभग उसी अनुपात में रहती है। इन २५०० करोड़ लाल रक्त कणों को यदि एक सीधी पंक्ति में बिठा दिया जाए तो इतना छोटा आकार रहते हुए भी वे इतनी बड़ी लाइन में होंगे, जो समस्त पृथ्वी की चार बार परिक्रमा कर सकें।

ऊपर कहा जा चुका है कि रक्त में तीन जाति के कण रहते हैं। लाल रक्त कणों की चर्चा भी हो चुकी है। अब कर्मचारियों में १ करोड़ २० लाख श्वेत रक्ताणु और ५० लाख लाल रक्त बिंबाणु और रहते हैं। एक बूंद खून में प्रायः ११ हजार

श्वेत कण होते हैं। इनका मुख्य कार्य शरीर में बाहर से प्रवेश करने वाले अथवा भीतर से ही पैदा होने वाले रोग कीटाणुओं से लड़कर उन्हें परास्त करना और उनके शरीरों को देह से बाहर निकाल देना होता है। बीमारियाँ तभी प्रकट होती हैं, जब ये श्वेत कण रोगाणुओं से हारते हैं। अन्यथा हमें पता भी नहीं चलता है और रोग निवारण का अधिकांश कार्य इन श्वेत कणों द्वारा भीतर ही भीतर निपटा दिया जाता है। बाहरी रक्त शरीर में प्रवेश कराया जाय या किसी दूसरे व्यक्ति का कोई अंग किसी की देह में आरोपित कराया जाए तो यह श्वेत कणिकाएँ 'बाहरी पदार्थ' के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर देती हैं और लेने के देने पड़ जाते हैं। यही कारण है कि डॉक्टर लोग किसी रोगी को वही रक्त चढ़ाते हैं, जो उसके अपने रक्त का सजातीय हो। अंगों का आरोपण करते समय इन श्वेत कणों को मूर्छित करने की औषधियाँ देकर चुप कर दिया जाता है।

तीसरे किस्म के रक्त बिंबाणु कभी चोट आदि लगने पर बाहर बहते हुए रक्त को जमाने की भूमिका संपादित करते हैं। यह न हो तो आघात लगने पर रक्त बाहर बहता ही रहे और उसके न रुकने पर मृत्यु हो जाय। एक बूँद खून में इनकी संख्या ३ लाख के करीब होती है और प्रायः १० घंटे ही जीवित रहते हैं।

यदि रक्त में लाल कण कम पड़ जाए या हीमोग्लोबिन की मात्रा घट जाए तो 'एनीमिया' रोग हो जाता है, शरीर थका-थका रहता है और सिर चकराता है।

रक्त के अभाव में हृदय तो पाँच मिनट भी अपना काम चला लेता है, पर मस्तिष्क तीन मिनट में ही निर्जीव हो जाता है।

बाँईं पसलियों में ९वीं, १०वीं और ११वीं के नीचे आमाशय के पीछे तिल्ली का स्थान है। यह लाल, बैंगनी रंग की है। इसमें रक्त एकत्रित रहता है। उसकी १२ सेंटीमीटर लंबाई तथा ७ सेंटीमीटर चौड़ाई होती है। वजन १५० से २०० ग्राम तक। इनमें रक्त को एकत्रित करने और निकालने की विशिष्ट क्षमता है।

पुराने जर्जर लाल रक्त कण अक्सर इसी में समाधिस्थ होते रहते हैं। गर्भावस्था में उसे रक्त बनाने के एक विशेष कारखाने का काम करना पड़ता है। किसी दुर्घटना के समय रक्त अधिक निकल जाय अथवा मज्जा में कोई दोष उत्पन्न हो जाए तो तिल्ली को उस आपत्तिकाल में विशेष कार्य करना पड़ता है और उस क्षति की पूर्ति वहीं से हो जाती है।

बाहरी रोग कीटाणुओं के आक्रमण से शरीर की रक्षा करना तिल्ली का मुख्य कार्य है। तपेदिक, टाइफाइड, सिफलिस, कालाजार, मलेरिया आदि रोगों के विषाणुओं से लड़ने वाली फौज विशेषतया तिल्ली में ही तैयार होती है, तब उसका वजन भी बढ़ जाता है। रक्त कैंसर—ल्यूकीमिया—में तो तिल्ली २० गुनी तक बढ़ जाती है और एक प्रकार से सारे पेट पर ही कब्जा कर लेती है।

रक्त संचार की दुनिया बहुत महत्त्वपूर्ण और सुव्यवस्थित है। उसे न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है और न ही उसका विवेचन किया जा सकता है, फिर भी यह कम आश्चर्यजनक और अद्भुत-विलक्षण नहीं है। रक्त संचार की इस सुव्यवस्थित और महत्त्वपूर्ण दुनिया को यदि ठीक तरह से समझा जा सके और उसके उपयुक्त रीति-नीति अपनाई जा सके तो परिपुष्ट और सुविकसित दीर्घ जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

रक्त संपदा, त्वचा और मस्तिष्क ही नहीं शरीर संस्थान का एक-एक घटक अद्भुत तथा विलक्षण है। साढ़े पाँच-छह फीट की इस मानवी काया में परमात्मा ने इतने अधिक आश्चर्य भर दिये हैं कि उसे देवमंदिर कहने और मानने में कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए। इस शरीर में सब देवताओं का आवास है। जीवित और जाग्रत् देवताओं का सान्निध्य प्राप्त रहने पर भी कोई व्यक्ति इन देव सत्ताओं का लाभ न उठा पाये तो इससे बड़ी दुर्भाग्यता और क्या होगी ?

❑ ❑

प्रचंड पुरुषार्थ का प्रतिफल मनुष्य जन्म

मनुष्य परमात्मा का पुत्र राजकुमार कहा जाता है। उसमें वे सभी विशेषतायें हैं, जिनके आधार पर उसे इस सृष्टि का सर्व-श्रेष्ठ प्राणी कहा जा सके। इसी तथ्य का एक पहलू यह भी है कि मनुष्य और छोटे-छोटे एककोशीय जीव अमीबा या हाइड्रा में कोई अंतर नहीं है। प्रकाशरूप आत्मा की लघुतम सत्ता में भी विराट् विश्व संव्याप्त है। ५ फीट ६ इंच लंबे १२० पौंड भार के शरीर में जो कुछ है वह आश्चर्यजनक है। बीज और संस्कार रूप से वह सब एक वीर्यकोष में विद्यमान रहता है। शरीरशास्त्रियों का मत है कि कोष स्थित गुणसूत्र (क्रोमोसोम) और संस्कार सूत्र (जीन्स) में वह सबके सब शारीरिक और मानसिक लक्षण और विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं, जो आगे चलकर मनुष्य शरीर में परिपक्व होने वाली होती हैं। बच्चे की ६ उंगलियाँ होंगी या दो जुड़ी हुई, आँखें नीली होंगी या पीली—यह सारे लक्षण प्रजनन कोषों में विद्यमान रहते हैं।

स्त्री के प्रजनन क्षेत्र में भी विशेष प्रकार के जननेंद्रिय कोष (ओवम) पाये जाते हैं। प्रत्येक पंद्रहवें दिन दायें या बायें ओर स्त्री के काम-अवयव (सेक्स-आर्गन) जिसे 'ओवरी' कहते हैं, में एक जननेंद्रिय कोष प्रकट होता है। वहाँ से निकलकर 'फिम्ब्रिएटेड एंड' जो एक पंजे की शक्ल का अवयव होता है, उसमें चला जाता है, यहाँ से चलकर वह गर्भाशय की भीतरी दीवाल से चिपक जाता है। जब तक कामेच्छा नहीं होती, मासिक धर्म के साथ ओवम-कोष घुलकर बाहर निकल जाता है, किंतु यदि काम की इच्छा हो और स्त्री को पुरुष का संयोग मिले तो यह संभव है कि पुरुष का एक वीर्य-कोष (स्पर्म) गर्भाशय में जाकर ओवम से मिल जाये। ओवम और स्पर्म का मिलना ही गर्भाधान कहलाता है।

पुरुष शरीर का वीर्य-कोष (स्पर्म) मछली के बच्चे जैसी आकृति का होता है, किंतु उसे नंगी आँखों से नहीं देखा जा

सकता। परमाणु का सैद्धांतिक व्यास 0.0000001 मिलीमीटर होता है, जबकि उसके नाभिक का व्यास 0.000000000001 मिलीमीटर होता है। इनका ही अध्ययन करने के लिए शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी यंत्रों (माइक्रोस्कोप) की आवश्यकता होती है। इनसे भी लघुतम आकार के मानव प्रजनन कोषों को तो बिना न्यूक्लियर माइक्रोस्कोप के देख पाना भी संभव नहीं। लघुतम होकर भी वीर्य-कोष का सुनिश्चित आकार होता है। सबसे ऊपर त्रिपार्श्व, फिर एक अंडाकार पिंड और उसमें भी पूँछ। यह है मनुष्य शरीर का आधार। कितना लघुतम रूप पर कितनी शक्तिशाली सत्ता ? एक मुर्दा परमाणु में 27 लाख किलो कैलोरी ऊर्जा हो सकती है, तब इस जीवित परमाणु की शक्ति का तो कहना ही क्या ? यदि मनुष्य इस लघुता का चिंतन कर सका होता तो वह शक्ति की एक अत्यंत शुद्ध और विशाल अवस्था में होता। अज्ञानता का दंभ और अहंकार तो स्वयं उसी के लिए कष्टदायक सिद्ध होता है। अहंकार के वशवर्ती मनुष्य अपने घर, पास-पड़ोस वालों से भी मैत्री बनाये नहीं रख पाता। यदि वह अपनी इस सूक्ष्मता का चिंतन कर सका होता, तब उसे सृष्टि के छोटे से छोटे जीव और जर्रे-जर्रे में अपनी ही प्रतिच्छाया दिखाई देती; तब न किसी के साथ द्वेष होता, न दुर्भाव। शक्ति, क्रियाशीलता, संतोष और आनंद की विभूतियों से आच्छादित हो गया होता।

यह निश्चित हो गया है कि जीवन प्रणाली नाभिक में ही है और वह शक्ति रूप में है। उसका कोई आकार नहीं है। एक अमीबा का नाभिक साइटोप्लाज्मा (नाभिक के अतिरिक्त कोष में जलवायु, गैस, खनिज आदि जो भी हैं, सब साइटोप्लाज्मा कहलाता है) का कुछ अंश लेकर दो अमीबाओं में बदल जाता है, दोनों की आकृति, स्वभाव भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, लगता है वे दोनों अलग-अलग विचार प्रणाली के रूप में जन्मे हों। एक ही विचार प्रणाली या केंद्रीभूत सत्ता का अनेक रूपों में विभक्त होना ऐसा ही है। वस्तुतः चेतना सारे विश्व में एक ही है। उस विश्वव्यापी चेतना

को जब हम एक महत् इकाई के रूप में देखते हैं तो वही सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वांतर्यामी ईश्वर के रूप में दिखाई देने लगता है। सविता के रूप में वही आत्मा मनुष्य और कीड़े-मकोड़ों के जीवन में वही जीव कहलाता है। तीनों अवस्थायें विराट् से सूक्ष्म और सूक्ष्म से विराट्। इसी विद्या का अवगाहन कर हम भारतीय भी योगी, द्रष्टा, ऋषि और महर्षि हो गये थे। ज्ञान के पुंज थे, शक्ति के पुंज थे हम और उसका एक मात्र आधार यह तत्त्व-दर्शन ही था, जिसने हमें ससीम से असीम बना दिया था।

जिस प्रकार एक अमीबा उपरोक्त विधि द्वारा अनेक अमीबाओं में बदल सकता है, उसी प्रकार स्त्री के गर्भाशय में पहुँचा हुआ आत्म-चेतना कण या वीर्य-कोष अपना विस्तार प्रारंभ करता है। एक वीर्य-कोष टूटकर दो हो जाते हैं। इस क्रिया में कोष की अंतःप्रेरणा काम करती है। फिर दो कोष विभक्त होकर चार बन जाते हैं। चार-आठ, आठ-सोलह, सोलह-बत्तीस। इस क्रम में यह कोष (सेल्स) ही बढ़ते और पकते रहते हैं। प्रारंभ में इनकी स्थिति शहतूत के फल (मोरुला) की सी होती है। फिर एक प्लेट और प्लेट से ट्यूब की शक्ल बनती है, यह ट्यूब आकृति ही तीन स्थानों से मुड़कर मस्तिष्क के तीन भाग—(१) अग्रभाग (फोरब्रेन), (२) मध्य मस्तिष्क (मिडब्रेन), (३) पिछला मस्तिष्क (विहाइंडब्रेन) बन जाते हैं।

कोषों का बनना अभी भी जारी रहता है, मुख्य कोष माँ के शरीर से पोषण ले-लेकर प्रत्येक कोष के लिए शारीरिक प्रकृति (साइटोप्लाज्मा) भाग जुटाता रहता है, जब अनेक कोष एकत्र हो जाते हैं तो फिर सुषुम्ना शीर्षक (स्पाइनल कार्ड) बनना प्रारंभ होता है और इस तरह नीचे का शरीर बनता हुआ चला जाता है। यह कोष प्रत्येक स्थान की परिस्थितियों के अनुरूप अपने आप मुड़ते, सीधे होते, कड़े और कोमल होते चले जाते हैं और इस प्रकार नौ महीने की अवधि में एक विकसित बच्चा बन जाता है।

आठ-दस पौंड वजन का बालक सौ पौंड के मनुष्य में बदल जाता है। कुछ ईश्वर की लीला ऐसी ही विचित्र है अन्यथा जो चेतना इस मनुष्य शरीर में है, वही उस एक मूल कोष (स्पर्म) में थी और वह अपने आप में एक पूर्ण संसार था। मनुष्याकृति में एक विस्तृत और वैज्ञानिक क्षमताओं से परिपूर्ण शरीर देने का उद्देश्य तो यही था कि मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म—ज्ञान और अज्ञान, यथार्थ और अयथार्थ के लक्ष्य को अच्छी तरह समझेगा, किंतु दुर्भाग्य मनुष्य का है कि वह शरीर के साथ अपनी आत्मिक चेतना को भी स्थूल बनाता चला जाता है। इस तरह उसकी शक्तियाँ भी अपवित्रता के अंधकार में छुपती चली जाती हैं और जीवन मुक्ति, शाश्वत लक्ष्य प्राप्ति जैसे लक्ष्य से वह वंचित होता हुआ चला जाता है।

चेतना मनुष्य शरीर के रूप में विकसित होकर परमाणु से भी बड़ी दिखाई देने लगी। यह उसका महत्तम रूप है और परमात्मा ने यह किसी विशेष हेतु से किया है। हम सब आनंद की खोज में हैं। उस आनंद की परिभाषा कर पाना दूसरे जीवों के लिए कठिन है, क्योंकि उनमें बुद्धि-विवेक की ऐसी क्षमता नहीं, जैसी मनुष्य में है। मनुष्य चाहे तो इस शरीर की विज्ञानमय शक्तियों का प्रयोग करके अपने महत्तम रूप और सौभाग्य को विश्वात्मा, विराट् शरीर में विकसित कर सकता है। यही स्थिति जिसमें मनुष्य को न तो कोई अभाव हो न अज्ञान, अशक्ति हो न अक्षमता, सबसे अधिक आनंद-उल्लास और सामर्थ्य से परिपूर्ण हो सकती है।

मनुष्य की क्षमता—सामर्थ्य

मनुष्य गया-गुजरा उस स्थिति में—जब अपनी सामर्थ्य को पहचानने और उसका उपयोग करने में उपेक्षा बरते। महान् और असाधारण उस स्थिति में—जब वह अपनी गरिमा को समझे और असीम क्षमता पर विश्वास करे। साधारणतया यह आत्म-विश्वास की कमी ही वह कठिनाई है, जिसके कारण हेय स्थिति में रहना पड़ता है।

मनुष्य की क्षमता का एक छोटा उदाहरण उसकी आरंभिक स्थिति 'भ्रूणावस्था' की गतिविधियों का पर्यवेक्षण करते हुए सहज ही किया जा सकता है। अपनी सत्ता के प्रकटीकरण अवसर पर साधनरहित स्थिति में यदि इतना अधिक पुरुषार्थ किया जा सकता है, तो साधन-संपन्न और विकसित स्थिति में अपेक्षाकृत और भी अधिक पराक्रम कर सकना संभव होना चाहिए। किंतु देखा यह जाता है कि श्रीगणेश का उपक्रम पीछे चलकर शिथिलता की दिशा में बढ़ने लगता है और क्रमशः ठंडा होता चला जाता है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। अन्यथा कोई कारण नहीं कि आरंभ में जिस स्तर की सक्रियता अपनाई गई थी, उसमें शिथिलता आने लगे। यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि आरंभ में विशेष क्षमता होती है और वह पीछे स्वयमेव घट जाती है। बीज से अंकुर निकलते समय, अंकुर को पौधा बनते समय जो प्रगति क्रम दृष्टिगोचर होता है वह पीछे समाप्त या शिथिल कहाँ होता है ? उस विकास प्रक्रिया में क्रमशः अभिवृद्धि ही होती चलती है; फिर कोई कारण नहीं कि प्रथम चरण में मनुष्य द्वारा किया जाने वाला पुरुषार्थ आगे चलकर अधिकाधिक तीव्र न होता चले। यदि इसी क्रमिक विकास की प्रक्रिया को अपनाये रहा जाय, उसमें शिथिलता न आने दी जाए तो मनुष्य देव या दैत्य स्तर के बढ़े-चढ़े काम करता रह सकता है।

पिता के शरीर से निकला हुआ शुक्राणु इतना छोटा होता है कि आलपिन की नोंक पर उसके हजारों भाई बैठ सकते हैं। उसे बिना शक्तिशाली सूक्ष्म-दर्शन यंत्र के खुली आँखों से तो देखा तक नहीं जा सकता। रतिक्रिया में जो मंथन क्रिया होती है, उससे यौन संस्थान में तीव्र विद्युत्-स्पंदन उठने आरंभ हो जाते हैं। उन्हीं की उत्तेजना से वह शांत पड़ा जीव उत्तेजित हो उठता है और अपनी स्वतंत्र सत्ता का निर्माण करने के लिए सहयोगी की तलाश में द्रुतगति से परिभ्रमण करता है। उस समय उसके हाथ, पैर, आँख आदि कुछ नहीं होते, तो भी अपनी आंतरिक आकांक्षा से

प्रेरित होकर अभीष्ट साथी को खोजने के लिए इस तेजी से दौड़ता है कि हिरन, चीते की दौड़ से भी उसका अनुपात बढ़ा-चढ़ा रहता है।

शुक्राणु को डिंबाणु तक पहुँचने में अपने आकार और स्थान की दूरी के अनुपात से उतनी लंबी यात्रा करनी पड़ती है जितनी कि उसे मनुष्य के बराबर आकार का होने पर पूरी पृथ्वी की दूरी नापनी पड़ती। इस यात्रा पर स्खलन के समय लाखों शुक्राणु अभीष्ट मनोरथ की पूर्ति के लिए निकलते हैं। इसे डर्बी की घुड़दौड़ के समतुल्य प्रतिस्पर्धा माना जा सकता है। प्रकृति सबल को सफलता देने की नीति अपनाती है। जो उस लंबी और कष्ट साध्य यात्रा में अंत तक प्रबल पुरुषार्थ नहीं कर पाते, बीच में ही थककर बैठ जाते हैं, वे दम तोड़ देते हैं। जो अणु प्राणपण का साहस करता है, वही सफल होता है और भ्रूण बनने का—प्रगति पथ पर अग्रसर होने का श्रेय प्राप्त करता है।

शुक्र और डिंब का मिलकर बना हुआ 'कलल' बिजली की नेगेटिव और पाजेटिव दो-दो धाराओं के सम्मिलन से उत्पन्न शक्ति प्रवाह की तरह सक्रिय हो उठता है। गंगा-यमुना का यह मिलना तीर्थराज संगम बनता है। सहयोग और सहकारिता का, मैत्री और सघन आत्मीयता का जीवन के पहले ही दिन जो पाठ पढ़ा जाता है; उसका सत्परिणाम तत्काल देखने को मिलता है। यह सहकारिता यदि आगे भी जारी रखी गई होती, उसका महत्त्व भुला न दिया गया होता तो मनुष्य प्रगति करते-करते न जाने कहाँ से कहाँ जा पहुँचा होता।

भ्रूण कलल आरंभ में बाल की नोंक की बराबर होता है; किंतु वह एक महीने के भीतर ही इतनी प्रगति करता है कि आकार में ५० गुना और वजन में ८००० गुना बढ़ जाता है। जो पहले दिन चिपचिपे जल बिंदु के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, वही एक महीने में चौथाई इंच का बुलबुला बन जाता है। उसे परीक्षण-विश्लेषण की मेज पर रखा जाये तो स्थिति को देखकर

आश्चर्यचकित रह जाना पड़ेगा। उसके सिर और धड़ को देखा जा सकता है। पैर पूँछ की तरह होते हैं। हाथ तो स्पष्ट नहीं होते, पर हृदय धड़कता हुआ और नसों में रक्त चक्कर लगाता हुआ देखा जा सकता है। जीव की सृजनात्मक गति का यह अद्‌भुत परिचय है। निर्माण का संकल्प जब कार्य रूप में परिणत होने के लिए आतुर हो उठे तो सहयोग, साधन और परिस्थितियाँ किस प्रकार अनुकूल होती चली जाती हैं, इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक महीने मात्र—स्वल्प समय में किया गया कार्य—निर्माण का कार्य कितनी प्रगति कर लेता है; इसे देखते हुए जीव की अद्‌भुत सृजनात्मक शक्ति पर संदेह करने का कोई कारण शेष नहीं रहता।

माता के शरीर में असीम मात्रा में पोषक पदार्थ भरे रहते हैं। उसे इच्छानुसार मात्रा में प्राप्त करने में भ्रूण पर कोई रोकथाम नहीं होती, पर वह सही विकास के सिद्धांत को समझता है कि निर्वाह मात्र के लिए न्यूनतम लिया जाए, अन्यथा अनावश्यक संग्रह उसके लिए अंततः भार बनेगा और विपत्ति उत्पन्न करेगा। 'त्येन-त्यक्तेन भुंजीथा' का पाठ प्रत्येक प्रगतिशील को पढ़ना पड़ता है। भ्रूण भी उस सनातन सिद्धांत से अपरिचित नहीं होता। उसे अपने शरीर के चारों ओर एक परत चढ़ानी पड़ती है। जो गर्भाशय में उपलब्ध सामग्री में से छना हुआ, उपयुक्त पोषक पदार्थ ही भ्रूण तक जाने देती हैं। इसे संयम और मर्यादा का आवरण कह सकते हैं। शरीरशास्त्र की दृष्टि से इस झिल्ली को 'ट्रोफोब्लास्ट' कहते हैं। संपत्ति के समुद्र में से मात्र उपयुक्त निर्वाह स्वीकार करने की व्यवस्था यह झिल्ली ही बनाती है। ऑक्सीजन और रसायन मिश्रित भ्रूण का उपयोगी आहार उसके शरीर में इस झिल्ली द्वारा छनकर भीतर पहुँचता है। बात इतने से ही समाप्त नहीं होती। भ्रूण के शरीर से मल भी बनता है। उसे बाहर निकालना आवश्यक है। यह झिल्ली ही उस मल को बाहर लाती है और माता के रक्त में धकेल देती है। उसकी सफाई माता के रक्त को अपनी निज की

सफाई के साथ-साथ ही करनी पड़ती है। उपलब्धि की तरह परित्याग का सिद्धांत अपनाया जाना कितना आवश्यक है ? इसे हृदयंगम करने पर ही भ्रूण कलल की सुरक्षा और अभिवृद्धि संभव होती है। हम तथाकथित 'बुद्धिमान्' लोग दोनों हाथों से अनावश्यक संग्रह में जुटते हैं और स्वेच्छा परित्याग के लिए कृपणतावश साहस ही नहीं जुटाते। फलतः उस भार संग्रह की विषाक्तता जीवन की नाव को बीच मझदार में डुबो देने का कारण बनती है।

अनुदानों के लिए लालायित रहने वाले लोग सोचते हैं कि दूसरों के अनुग्रह से मिली सामग्री से ही काम चल सकता है, पर यह कुकल्पना सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध होती है। लोग संभवतः यही मानते हैं कि माता का रक्त ही भ्रूण की नसों में घूमता है, किंतु वास्तविकता वैसी है नहीं। बच्चे का अपना स्वतंत्र रक्त होता है। यह बात अलग है कि उसके निर्माण की साधन-सामग्री माता के शरीर से उपलब्ध होती है।

दूसरे महीने में भ्रूण अपने ऊपर एक रक्षा कवच—जलीय जाकिट के रूप में धारण कर लेता है। वह जानता है कि हर समर्थ को सुरक्षा संग्राम में उतरना पड़ता है। जीवन एक खुला संघर्ष है। जो इस रण क्षेत्र में उतरने से डरता है—सुविधाओं की वर्षा होते रहने के सपने देखता है, वह पाता कुछ नहीं—खोता बहुत है। संकटों से जूझने में जितने मरते हैं, उसकी तुलना में उनसे डरने के कारण, बेमौत मरने वाले कायरों की संख्या कहीं अधिक होती है। भ्रूण की शरीर संपदा बढ़ती है तो साथ ही खतरा भी बढ़ता है। बाल की नोंक या चना, मटर जितने शरीर को पेट में कुछ विशेष खतरा नहीं था, पर जब आकार बढ़ेगा तो खतरे की आशंका भी रहेगी ही। बच्चे के बढ़े हुए शरीर पर माता के पेट का दबाव बढ़ता है। साथ ही उसके चलने-फिरने, उलटने-पलटने की क्रिया भी भ्रूण को प्रभावित करती है। ऐसी दशा में यह सुरक्षा-कवच आवश्यक है। सुरक्षात्मक जीवन संघर्ष के क्षेत्र में भ्रूण को कवच धारण करके उतरना पड़ता है और उसकी

आवश्यकता मृत्यु पर्यंत बनी ही रहती है। स्वावलंबन की—सतर्कता पूर्वक आत्म-रक्षा की—प्रगति के लिए अपने पैरों खड़े होने की जो शिक्षा प्रथम मास में कार्यकाल में कार्यान्वित की गई थी, उसे यदि भविष्य में भी अपनाये रहा जा सके तो प्रगति की असीम संभावनाएँ मूर्तिमान् होती चलती हैं।

एक महीने का भ्रूण एक इंच के दशवें भाग को बराबर लंबा होता है। तभी से उसके हृदय, मस्तिष्क, फेफड़े और आँतें बनना शुरू हो जाती हैं। गुर्दे बनाने में तो जीव को भारी उखाड़-पछाड़ करनी पड़ती है। आरंभिक गुर्दा मछली के गुर्दे से मिलता-जुलता होता है। पीछे वह मेंढक जैसा बनता है, फिर उसकी आकृति छोटे पशुओं के समतुल्य होती है। संभवतः यह विकास परंपरा का क्रम है। शरीर की मूल सत्ता आदिम स्मृतियों को धारण किये रहती है और अपना काम चलता नहीं देखता। फलतः वह अपनी मर्जी के गठन में जुटता है। गुर्दों के परिवर्तन में देखी जाने वाली प्रवृत्ति यदि आगे भी चलती रहे तो पशु-प्रवृत्तियों से लड़-झगड़कर उन्हें खदेड़ देना और आत्म-गौरव के अनुरूप उच्चस्तरीय प्रकृति ढाल देना और प्रवृत्ति अपना लेना कुछ भी कठिन न रह जाएगा।

पहले महीने में भ्रूण की जो स्थिति होती है दूसरे महीने में उसका क्रम बढ़ता ही चला जाता है। पहले महीने की तुलना में उसकी लंबाई छह गुनी और वजन ५०० गुना बढ़ता है। ज्ञानेंद्रियों के निशान—रीढ़ की हड्डी—अस्थियों का ढाँचा—तंत्रिकाओं का जाल—इसी अवधि में विनिर्मित होने आरंभ हो जाते हैं।

तीसरे महीने में यों शरीर के अन्य अवयव भी स्पंदन, ऐंठन और हलचल करते देखे जाते हैं, पर सबसे अधिक उथल-पुथल आँतों में होती है। वे होतीं तो अनगढ़ रस्सी की तरह हैं, पर उनकी मंथन क्रिया देखते ही बनती है। पूर्ण मनुष्य की आँतें जितना जिस गति से काम करती हैं, उसकी तुलना में भ्रूण की आँतें प्रायः हजार गुना अधिक पुरुषार्थ कर रही होती हैं। जीव चेतना की मूलभूत क्षमता का यह प्रारंभिक परिचय है, इससे

उसकी सात्त्विक सामर्थ्य का पता चलता है। यदि इसे कुंठित न किया जाए तो पेट की पाचन शक्ति अद्‌भुत स्तर तक अपनी क्रियाशीलता का परिचय देती रह सकती है।

शरीर में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अवयव दो हैं। एक मस्तिष्क—दूसरा हृदय। तीसरे महीने इनका विकास आरंभ हो जाता है। बुद्धि और भावना की दो क्षमताएँ ही ऐसी हैं, जो मनुष्य को अभीष्ट गति और उपयुक्त दिशा देती हैं। विकास साधनों के आधार पर नहीं, इन्हीं दो अवयवों, दो विभूतियों के आधार पर होता है। सफलताएँ और उपलब्धियाँ तो इन दो तत्त्वों की प्रतिक्रिया मात्र हैं। गर्भस्थ शिशु इन्हें विकसित करने की आवश्यकता समझता है और किसी योग्य हो सकने की स्थिति में आने के लिए दो महीने की अवधि पूरी होते ही वह इन दो अति महत्त्वपूर्ण केंद्रों के विकसित करने में जुट जाता है। उन दिनों इन पर जितना श्रम होता है उतना ही यदि जन्मकाल के उपरांत भी किया जा सके तो मनुष्य की ज्ञान-संपदा और भावविभूति की चरम उन्नति हो सकती है। ऐसा मनुष्य देवात्मा स्तर का आलोकमय जीवनयापन कर सकता है।

लिंग भेद की पृथकता तीसरे महीने से प्रारंभ होती है। उससे पूर्व भ्रूण में उभयलिंगी लक्षण होते हैं। दोनों में से जीव किसका चुनाव करता है ? यह उसकी अपनी चेतनात्मक प्रकृति पर निर्भर है। जीव की पसंदगी के आधार पर ही उसका प्रिय एवं अभ्यस्त लिंग विकसित होने लगता है। प्रकृति ने दोनों ही अनुदान उनके उसके सामने खुले रखे हैं। जिसे भी जीव चुनना चाहे स्वेच्छापूर्वक उसमें से एक को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार कर सकता है।

जन्म लेते ही बालक जीवन संघर्ष के लिए भयंकर मल्ल-युद्ध आरंभ करता है। भीतर और बाहर की परिस्थितियों में भारी अंतर होता है। उदर के सुरक्षित वर्ग में उसे बाहरी खतरों का सामना नहीं करना पड़ता था। पर बाहर तो ऋतु प्रभाव से

लेकर घातक विकिरणों से भरा हुआ नया एवं अपरिचित संसार होता है। आहार, विश्राम, मलत्याग आदि का सर्वथा नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इस परिवर्तन को ऐसा ही माना जा सकता है जैसे एक लोक के प्राणी को दूसरे लोक में बसने के समय हो सकता है। स्थिति का सामना करने के लिए बहुमुखी समर्थता चाहिए। यह अनुदान कोई और नहीं दे सकता। जीव को अपने ही बलबूते उपार्जित करना पड़ता है। जन्म लेते ही वह अपने शरीर को नई परिस्थितियों से टक्कर लेने, योग्य बनाने के लिए प्रचंड प्रयास करता है। इसको जन्म काल में बालक की विचित्र गतिविधियों के रूप में देखा जा सकता है। नवजात शिशु जन्म लेते ही हाँफता है, काँपता है, चिल्लाता है, हाथ-पैर पीटता है, यह सब क्या है ? इसे उसका सामर्थ्य-संपादन प्रयत्न ही कहा जा सकता है। गर्भ रज्जु कटते ही उसे स्वावलंबन का उत्तरदायित्व संभालना पड़ता है। तब माता उसके विकास में सीमित सहयोग ही दे पाती है। इस संसार का यही नियम है कि जीव को अपने बलबूते निर्वाह और प्रगति के साधन जुटाने पड़ते हैं। सहयोग तो आदान-प्रदान के सिद्धांत पर ही टिकता है। उदार अनुदान तो क्रमशः घटते ही जाते हैं ? माता की सहायता गर्भकाल जितनी कहाँ मिलती है ? उसका अनुपात क्रमशः घटता ही जाता है। बालक उस कमी को अपने स्वावलंबी प्रयासों से पूरी करता है।

पेट से बाहर आने में कष्ट तो माता को होता है, पर उसके बाहर आने की प्रक्रिया में प्रबल चेष्टा और अदम्य आकांक्षा शिशु की ही काम कर रही होती है। गर्भस्थ शिशु अतिशय दुर्बल हो तो वह माता की कितनी ही इच्छा होने पर भी बाहर न आ सकेगा। उसे माता का पेट चीरकर ही बाहर निकालना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि जन्मने के तुरंत बाद बालक रोये, चिल्लाये नहीं, हाथ-पैर न पीटे , उसका जीवित रहना कठिन हो जाएगा। ऐसी स्थिति होने पर चतुर दाइयाँ ठंडे पानी के छींटे देकर या दूसरे कृत्रिम उपायों से बच्चे को रोने, चिल्लाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। कहावत है

कि बिना रोये माता दूध नहीं पिलाती। प्रकृति भी समर्थता का उपहार बालक को तभी देती है, जब वह इसके लिए भारी उत्कंठा प्रकट करे। रोने-चिल्लाने में इसी मांग की प्रचंडता का आभास मिलता है।

जीव को जन्म लेने के उपरांत नये लोक में पहुँचकर नये उत्तरदायित्व संभालने, नये लोगों के साथ तालमेल बिठाने, नई परिस्थितियों को समझने, नये साधन उपयोग करने की तरह हर स्तर की नवीनता से परिचित ही नहीं, अभ्यस्त भी होना पड़ता है। इसके लिए क्या कुछ सीखना और क्या कुछ करना पड़ता है ? इसकी कल्पना तक इस समय तो अपने लिए कठिन ही है।

जीव को प्रसुप्ति से जागृति में आने और तज्जनित परिस्थितियों का सामना करने में कितने प्रबल पुरुषार्थ और कितनी अधिक सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है, इसे देखकर उसकी मौलिक गरिमा का अनुमान लगाया जा सकता है।

आत्मा की सामर्थ्य का मूल स्रोत परमात्मा है। परमात्मा अनंत समर्थता का पुंज है। फिर उससे अविच्छिन्न संबंध सूत्रों के साथ जुड़ा हुआ आत्मा ही क्यों—किसी प्रकार अभावग्रस्त हो सकता है ? अन्नमय कोश, काय-कलेवर हाड़-मांस का पिटारा नहीं है। उसके रोम-रोम में आत्मसत्ता ओत-प्रोत है। अपने आरंभिक दिनों में जीव अपने घरोंदे को जिस प्रबल पुरुषार्थ के सहारे विकसित करता है, वह समर्थता उसमें सदैव बनी रहती है। उसे विस्मृत और उपेक्षित पड़े रहने देने से ही हमें हेय और दुर्बल स्थिति का सामना करना पड़ता है।

इस संसार में प्रकृति की तीन शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। इन्हीं की प्रेरणा से विभिन्न जड़ अपने-अपने ढंग की विविध हलचलें करते दिखाई पड़ते हैं। इन तीन शक्तियों का नाम है—(१) विद्युत्, (२) ताप (३) प्रकाश। अगणित क्षेत्रों में अगणित प्रकार के क्रिया-कृत्यों का संचार इन्हीं के द्वारा होता है। शरीर में भी यह तीन

शक्तियाँ विद्यमान हैं और अपनी स्थिति के अनुरूप विभिन्न अवयवों में विभिन्न प्रकार के कार्य करती हैं।

स्नायु मंडल में 'विद्युत् धारा' का संचार रहता है, मस्तिष्क उसका केंद्र है। इंद्रिय केंद्रों पर उसी का आधिपत्य है। ज्ञान तंतुओं के द्वारा केंद्र तक सूचना पहुँचाना और वहाँ से मिले निर्देशों को अवयवों के द्वारा संपन्न कराना इसी शक्ति का काम है। मनःसंस्थान की समस्त गतिविधियाँ इसी के द्वारा संचालित होती हैं।

विकास से संबंधित समस्त हलचलें प्रकाश तरंगों द्वारा संपन्न होती हैं। सूर्य की प्रकाश किरणें वनस्पतियों की अभिवृद्धि एवं प्राणियों में प्राण संचार का प्रयोजन पूरा करती हैं और भी बहुत कुछ उनके द्वारा होता है। आयु के साथ होने वाली अभिवृद्धि को यह प्रकाशतत्त्व ही सँजोता है।

आध्यात्मिक अलंकारों में विद्युत् को ब्रह्मा, प्रकाश को विष्णु और ताप को शिव माना गया है। मनःक्षेत्र में इनकी हलचलें भावना, इच्छा और क्रिया के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। ब्रह्मांड भी विराट् पुरुष का एक सुविस्तृत शरीर ही है। इसमें विद्युत् तत्त्व सत्, प्रकाश रज और ताप को तम रूप में प्रतिपादित किया गया है।

आंतरिक स्थिति में हेर-फेर करके बाहर की स्थिति बदली जा सकती है। सभी जानते हैं कि मनःस्थिति ही भली-बुरी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। अंतरंग को बदलने पर बहिरंग सहज ही बदला जा सकता है। शारीरिक स्थिति में सुधार-परिवर्तन करना हो तो उस उपकरण के अंतराल में काम कर रही सूक्ष्म क्षमताओं को देखना-संभालना होगा। कारखाने की मशीनें ठप्प हों तो समझना चाहिए कि विद्युत् धारा या भाप-ताप के शक्ति स्रोतों में कहीं कुछ अड़चन उत्पन्न हो गई है। मशीनों की देखभाल करना भी उचित है, पर आधार तो शक्ति स्रोतों पर निर्भर है। शरीरगत दुर्बलता, रुग्णता को दूर करने के लिए आहार-विहार की

गड़बड़ियाँ सुधारना और चिकित्सा उपचार पर ध्यान देना आवश्यक है, पर काम इतने से ही नहीं चल सकता। देखना यह भी होगा कि अवयवों के संचार करने के लिए उत्तरदायी सूक्ष्म शक्तियों की प्रवाह धारा ठीक प्रकार चल रही है या नहीं। शरीर 'तीन फेस' पर चलने वाली मोटर है। इन सभी तारों का ठीक स्थिति में होना आवश्यक है, जिससे शक्ति संचार में अवरोध उत्पन्न न होने पाये।

अवयवों को कई प्रकार की बुरी आदतें घेर लेती हैं—इंद्रियों को उच्छृंखलता बरतने का अभ्यास पड़ जाता है—दुर्व्यसनों को इसी प्रक्रिया के अंतर्गत लिया जा सकता है। आलस्य में अवयवों की अशक्तता का दोष कम और आंतरिक स्फूर्ति की न्यूनता का कारण अधिक काम कर रहा होता है। इन दोष-दुर्गुणों को ठीक करने के लिए मात्र शारीरिक अवयवों को दोष देना अथवा उसी की ठोंक-पीट करना पर्याप्त न होगा। शरीर में संव्याप्त अंतःचेतना की भी देखभाल करनी होगी। यही स्थूल शरीर का अध्यात्म विज्ञान है। यदि स्तर की गहराई तक पहुँचा जा सके और वहाँ सुधारने-उभारने का कौशल प्राप्त हो सके तो शरीरगत दोष-दुर्गुणों, दुर्बलता एवं रुग्णता को निरस्त कर सकना सरलतापूर्वक संभव हो सकता है।

❑ ❑

अद्भुत और विलक्षण मानवी काया

मानवी शरीर यों उपेक्षित परिभाषा में एक 'चलता-फिरता पेड़' है। भौतिक दृष्टि से उसकी और कुछ व्याख्या हो भी नहीं सकती। वनस्पतियों में पाये जाने वाले रसायन ही न्यूनाधिक मात्रा में उसमें भी पाये जाते हैं। जन्म, वृद्धि और मरण के चक्र में घास-पात की तरह मनुष्य भी भ्रमण करता है। आहार और साँस लेने की क्रिया ही पौधों की तरह उसे भी जीवित रखती है। फिर भी पौधे और मनुष्य के बीच पाये जाने वाले अंतर पर दृष्टिपात करने से हमें दोनों के बीच हर क्षेत्र में मौलिक अंतर दृष्टिगोचर होता है। विशिष्टता मानवी काया के रोम-रोम में संव्याप्त है। आत्मिक गरिमा पर विचार करना पीछे के लिए छोड़कर मात्र काय-संरचना और उसकी क्षमता पर विचार करें तो इस क्षेत्र में भी सब कुछ अद्भुत दीखता है। वनस्पति तो क्या—पिछड़े स्तर के प्राणि-शरीरों में भी वे विशेषताएँ नहीं मिलतीं, जो मनुष्य के छोटे और बड़े अवयवों में सन्निहित हैं। कलाकार ने अपनी सारी कला को इसके निर्माण में झोंका है।

शरीर रचना से लेकर मनःसंस्थान और अंतःकरण की भाव-संवेदनाओं तक सर्वत्र असाधारण ही असाधारण दृष्टिगोचर होता है। यह सोद्देश्य होना चाहिए। अन्यथा एक ही घटक पर कलाकार का इतना श्रम और कौशल नियोजित होने की क्या आवश्यकता थी ? यह मात्र संयोग नहीं है और न इसे रचनाकार का कौतुक—कौतूहल कहा जाना चाहिए। मनुष्य को विशेष प्रयोजन के लिए बनाया गया। इस 'विशेष' को संपन्न करने के लिए उसका प्रत्येक उपकरण इस योग्य बनाया गया है कि उसके कण-कण में विशेषता देखी जा सके। इन साधन उपकरणों के सहारे ही वह आत्म-कल्याण एवं विश्व-कल्याण जैसे महान् प्रयोजन संपन्न कर सकने में समर्थ हो सकता है। स्रष्टा ने इसी साज-सज्जा से

अलंकृत करके उसे इस संसार में अभीष्ट कर्तव्यों का निर्वाह करने के लिए भेजा है।

हृदय की धड़कन में सिकुड़ने की—सिस्टोल और फैलने की—डाइस्टोल क्रिया होती रहती है। इसी क्रिया के कारण रक्त-संचार होता है और जीवन के समस्त क्रियाकलाप चलते हैं। यह रक्त प्रवाह नदी-नाले की तरह नहीं चलता, वरन् पंपिंग स्टेशन जैसी विशेषता उसमें रहती है। पंप में झटका मारने की क्रिया होती है। उससे गति मिलती है। नीचे की दिशा में तो प्रवाह अपने आप भी होता है, पर ऊपर की ओर ले जाना हो तो उसके पीछे शक्ति का दबाव होना आवश्यक है। आकुंचन-प्रकुंचन से झटका लगता है और उसके दबाव से रक्त-चक्र नीचे जाने और ऊपर आने की दोनों आवश्यकताएँ पूरी कर लेता है। हृदय की धड़कन रक्त के परिभ्रमण में काम आने वाली गति की व्यवस्था करती है।

कोई यंत्र लगातार काम करने से गरम हो जाता है। श्रम के साथ विश्राम भी आवश्यक है। श्रम में शक्ति का व्यय होता है, विश्राम उसको फिर से जुटा देता है। हृदय के आकुंचन-प्रकुंचन से जहाँ झटके द्वारा शक्ति उत्पादन की आवश्यकता पूरी होती है, वहाँ इन दोनों क्रियाओं के बीच मध्यांतर की अवधि में विश्राम का लाभ भी उसे मिलता रहता है। एक-धड़कन एक मिनट के ७२वें भाग में सैकंड के पाँच बटे छह भाग में संपन्न होती है। इस अल्प अवधि में ही असंख्य विद्युत् तरंगें उस संस्थान से प्रवाहित होती हैं। इन तरंगों के विद्युत् आवेशों को इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम के माध्यम से रिकार्ड करके हृदय की स्वास्थ्य परीक्षा की जाती है।

हृदय के समान ही फेफड़े भी आजीवन कभी विश्राम नहीं करते। २० से ३० घन इंच हवा को वे बार-बार भरते और शरीर को ताजगी प्रदान करते रहते हैं। शरीर में दूषित वायु कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस को बाहर निकालना और शुद्ध वायु ऑक्सीजन को शरीर पोषण के लिए उपलब्ध कराना यह दुहरा उत्तरदायित्व फेफड़ों को निबाहना पड़ता है। फेफड़ों में आँख से भी न दीख पड़ने

वाली बहुत पतली वायु नलिकाएँ रहती हैं। इन ४० नलिकाओं के मिलने से एक वायुकोष्ठ—एयरसैक बनता है, यही सघन होकर फेफड़े का रूप लेते हैं। इनकी संख्या प्रायः १६०० होती है। इन्हें श्वास विभाग के सफाई कर्मचारी भी कहा जा सकता है। इन वायुकोष्ठों की लचक अद्‌भुत है। इन्हें पूरी तरह फूलने का अवसर मिले तो वे समूचे शरीर से ५५ गुने विस्तार में फैल सकते हैं।

साधारणतया उपलब्ध ऑक्सीजन का ४.५ प्रतिशत अंश ही शरीर ग्रहण कर पाता है। यदि श्वास लंबी और गहरी लेने का अभ्यास डाल लिया जाय तो तीन गुनी अर्थात् १३.५ प्रतिशत तक ऑक्सीज़न ग्रहण की जा सकती है। इस उपार्जन का लाभ भी शरीर पोषण के लिए तीन गुना अधिक प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार सफाई का कार्य तीन गुना बढ़ सकता है। जिस अनुपात से गहरी साँस द्वारा ऑक्सीजन अधिक ग्रहण की जा सकती है, उसी प्रकार कार्बन डाइ-ऑक्साइड को भी ४.५ प्रतिशत के स्थान पर १३.५ के अनुपात से बाहर निकाला जा सकता है। कहना न होगा कि शक्ति प्राप्त करने और विषाक्तता निकालने के अनुपात बढ़ जाए तो उससे आरोग्य वृद्धि में अत्यधिक लाभ मिलेगा। गहरी और लंबी साँस लेने की सामान्य प्रणाली—डीप ब्रीदिंग—भौतिक विज्ञान की प्राणायाम प्रक्रिया कहलाती है। इसमें आध्यात्मिक आधारों को भी मिला दिया जाए तो फेफड़े स्वास्थ्य संवर्धन में अद्‌भुत भूमिका निभाने लगते हैं।

हृदय और फेफड़े ही नहीं अन्य छोटे दीखने वाले अवयव भी अपना काम अद्‌भुत रीति से संपन्न करते हैं। गुर्दों की गाँठें देखने में मुट्ठी भर आकार की, भूरे कत्थई रंग की, सेम के बीज जैसी आकृति की, लगभग १५० ग्राम भारी हैं। प्रत्येक गुर्दा प्रायः ४ इंच लंबा, २.५ इंच चौड़ा और २ इंच मोटा होता है। जिस प्रकार फेफड़े साँस को साफ करते हैं, उसी प्रकार जल अंश की सफाई इन गुर्दों के जिम्मे है। गुर्दे रक्त में घुले रहने वाले नमक, पोटेशियम, कैल्शियम, मैगनीशियम आदि पर कड़ी नजर रखते हैं। इनकी मात्रा जरा भी बढ़ जाए तो शरीर पर घातक प्रभाव डालती है। शरीर में जल की भी एक

सीमित मात्रा होनी चाहिए। रक्त में क्षारीय एवं अम्लीय अंश न बढ़ने पाये इसका ध्यान भी गुर्दों को ही रखना पड़ता है। छानते समय इन सब बातों की सावधानी वे पूरी तरह रखते हैं। गुर्दे एक प्रकार की छलनी हैं। उसमें १० लाख से भी अधिक नलिकाएँ होती हैं। इन सबको लंबी कतार में रखा जाए तो वे ११० किलोमीटर लंबी डोरी बन जायेगी। एक घंटे में गुर्दे रक्त छानते हैं, जिसका वजन शरीर का भार से दूना होता है। विटामिन अमीनो अम्ल, हारमोन, शकर जैसे उपयोगी तत्त्व रक्त को वापिस कर दिये जाते हैं। नमक ही सबसे ज्यादा आवश्यक मात्रा में होता है। यदि यह रुकना शुरू कर दे तो सारे शरीर पर सूजन चढ़ने लगेगी। गुर्दे ही हैं जो इन अनावश्यक तत्त्वों को निरंतर बाहर फेंकने में लगे रहते हैं।

दोनों गुर्दों में परस्पर अति सघन सहयोग है। एक खराब हो जाए तो दूसरा उसका बोझ अपने ऊपर उठा लेता है। गुर्दे प्रतिदिन प्रायः दो लीटर मूत्र निकालते हैं। मनुष्य अनावश्यक और हानिकारक पदार्थ खाने से बाज नहीं आता। इसका प्रायश्चित्त गुर्दों को करना पड़ता है। नमक, फास्फेट, सल्फेट, पोटेशियम, कैल्शियम, मैगनेशियम, लोहा, क्रिएटाइनिन, यूरिया, अमोनिया, यूरिक एसिड, हिप्यूरिक एसिड, नाइट्रोजन आदि पदार्थों की प्रचलित आहार पद्धति में भरमार है। गुर्दे इस कचरे को मूत्र मार्ग से बाहर करने और स्वास्थ्य संतुलन बनाये रखने का उत्तरदायित्व निबाहते हैं। यदि वे अपने कार्य में तनिक भी ढील कर दें, तो मनुष्य ढोल की तरह फूल जाएगा और देखते-देखते प्राण गँवा देगा।

आमाशय का मोटा काम भोजन हजम करना माना जाता है, पर यह क्रिया कितनी जटिल और विलक्षण है ? इस पर दृष्टिपात करने से आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इसे छोटी थैली की एक अद्‌भुत रसायनशाला की संज्ञा दी जाती है, जिसमें सम्मिश्रणों के आधार पर कुछ से कुछ बना दिया जाता रहता है। कहाँ अन्न और कहाँ रक्त ? एक स्थिति को दूसरी में बदलने के लिए उसके बीच इतने असाधारण परिवर्तन होते हैं—इतने अधिक

रासायनिक सम्मिश्रण मिलते हैं कि इस स्तर के प्रयोगों की संसार भर में कहीं भी उपमा नहीं ढूँढ़ी जा सकती। आमाशय में पाये जाने वाले लवणाम्ल, पेप्सीन, रेन्नेट आदि भोजन को आटे की तरह गूँथते हैं। लवणाम्ल खाद्य-पदार्थों में रहने वाले रोग-कीटाणुओं का नाश करते हैं। पेप्सीन के साथ मिलकर वे प्रोटीनों से 'पेप्टोन' बनाते हैं। पैंक्रियाज में पाये जाने वाले इन्सुलीन आदि रसायन शकर को संतुलित करते हैं और आँतों के काम को सरल बनाते हैं। इतने अधिक प्रकार के—इतनी अद्‌भुत प्रकृति के—इतनी विलक्षण प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करने वाले रासायनिक प्रयोग मनुष्यकृत प्रयोग-प्रक्रिया द्वारा संभव हो सकते हैं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आमाशय की रासायनिक प्रयोगशाला क्या-क्या कौतुक रचती है और क्या से क्या बना देती है ? इसे किसी बाजीगर की विलक्षण जादूगरी से कम नहीं कहा जा सकता।

यों तो कर्ता की कारीगरी का परिचय रोम-रोम और कण-कण में दृष्टिगोचर होता है, पर आँख, कान जैसे अवयवों पर हुई कारीगरी तो अपनी विलक्षण संरचना से बुद्धि को चकित ही कर देती है। आँख जैसा कैमरा मनुष्य द्वारा कभी बन सकेगा ! इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कैमरों में नाभ्यंतर—फोकस लेंथ—को बदला जा सके—ऐसे कैमरे कहीं नहीं बने। फोटो लेने के लिए अच्छे कैमरों के लेन्स भी पहले एक निश्चित नाभ्यांतर पर फिट करने होते हैं। फिल्मों तक में फोटो दृश्य और कैमरे की दूरी का संतुलन मिलाकर फोकस सही करना पड़ता है। इस व्यवस्था को बनाये बिना अभीष्ट फोटो खिंच ही नहीं सकेगा। किंतु नेत्र संरचना में ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता। वे निकट से निकट और दूर से दूर को भी—आँखों को बिना आगे-पीछे हटाये—मजे में देखते रह सकते हैं। प्रिज्म या थ्री डायमेन्शनल कैमरे अद्‌भुत माने जाते हैं। पर वे भी रंगों का वर्गीकरण उस तरह नहीं कर सकते जैसा कि आँखें करती हैं। सुरक्षा-सफाई का 'प्रबंध' जैसा आँखों में है वैसा किसी कैमरे में नहीं।

पहले उलटा फोटो लेते हैं, फिर दुबारा प्रिंट करके उन्हें सीधा करना पड़ता है, किंतु आँखें सीधा एक ही बार में सही फोटो उतार लेती हैं।

कान जैसा 'साउंड फिल्टर' यंत्र कभी मनुष्य द्वारा बन सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। रेडियो और वायरलैस की आवाजें एक निश्चित 'फ्रीक्वेंसी' पर ही सुनी जा सकती हैं। कानों के सामने इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं है। ये किसी भी तरफ की, कोई भी ऊँची-हलकी आवाज सुन सकते हैं। कई आवाजें एक साथ सुनने या कोलाहल के बीच अपने ही व्यक्ति की बात सुन लेने की क्षमता हमारे ही कानों में होती है। ध्वनि साफ करने के लिए 'रेक्टीफायर' का प्रयोग किया जाता है। कुछ यंत्रों में 'वैक्यूम सिस्टम' एवं 'गेस सिस्टम' से ध्वनि साफ की जाती है। उसमें लगे धन प्लेट 'एनोड' और ऋण प्लेट 'कैथोड' के साथ 'ग्रिड' जोड़ना पड़ता है, तब कहीं एक सीमा तक आवाज साफ होती है। किंतु कान की तीन हड्डियाँ स्टेयिम, मेलियस और अंकस में इतनी स्वच्छ प्रणाली विद्यमान है कि ये आवाज को उसके असली रूप में बिना किसी कठिनाई के सुन सकें। न मात्र सुनने की है वरन् उस संदेश के अनुरूप अपना चिंतन और कर्म निर्धारित करने के लिए प्रेरणा देने वाली विद्युत् प्रणाली कानों में विद्यमान है। साँप की फुसकार सुनते ही यह प्रणाली खतरे से सावधान करती है और भाग चलने की प्रेरणा देने के लिए रोंगटे खड़े कर देती है। ऐसी बहुद्देशीय संरचना किन्हीं ध्वनि-ग्राहक यंत्रों में संभव नहीं हो सकती।

शरीर पूरा जादूघर है। उसकी कोशिकाएँ, तंतुजाल किस प्रकार जीवन-मरण की गुत्थियाँ स्वयं सुलझाते हैं और समूची काया को समर्थ बनाये रहने में योगदान करते हैं, यह देखते ही बनता है। अन्नमय कोश जिसे स्थूल शरीर भी कहते हैं, परमेश्वर की विचित्र कारीगरी से भरा-पूरा है। उसके किसी भी अवयव पर दृष्टिपात किया जाय, उसमें एक से एक बढ़ी-चढ़ी अपने-अपने ढंग की विलक्षणताएँ प्रतीत होंगी।

अवयव ही नहीं, इकाई भी अद्‌भुत

शरीर के यह अंग अवयव ही नहीं, जिन घटकों से वह बना है वे भी कम विलक्षण और अद्‌भुत नहीं हैं। जीवन की मूल इकाई कोशिका है, जिसे सैल या कोशा भी कहते हैं। यह शरीर का सबसे छोटा किंतु मूल घटक है, जिस प्रकार पदार्थ का मूल घटक परमाणु होता है, उसी प्रकार कोशा को जीवन का मूल घटक कहा जाता है। यों शरीर अरबों-खरबों कोशिकाओं से बना होता है, लेकिन प्रत्येक कोशिका अपने आप में अद्‌भुत विलक्षणता लिये रहती है। कोशा रासायनिक पदार्थों से मिलकर बनती है, पर उसके मध्य में जो 'नाभिक' है, उसी को कोशा—ब्रह्मांड का बिजलीघर कह सकते हैं, यहीं से सारी हलचलों का प्रवाह चलता है। अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि रासायनिक खोखला कलेवर मात्र है, उसका मूल जीवन नाभिक के केंद्र में सन्निहित है और वह 'विद्युत्' रूप है। इस प्रकार अब जीवन की व्याख्या एक विशिष्ट विद्युत् प्रवाह के रूप में की जाने लगी है और यह माना जाने लगा है कि यह बिजली सामान्य विद्युत् जैसी दिखाई पड़ने पर भी उसके भीतर एक सुव्यवस्थित क्रम व्यवस्था ही नहीं, जीवनोपयोगी चेतना भी विद्यमान है। जड़ के अंतर्गत इस चेतना की विद्यमानता इन्हीं दिनों मूर्धन्य वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकार की गई है। अब मनुष्य सर्वथा जड़—मात्र रासायनिक संयोग नहीं रहा। वह चिन्मय स्वीकार कर लिया गया।

किंग्स कालेज लंदन के डॉ० विल्किन्स ने अपने अन्वेषण का निष्कर्ष बताया कि कोशिका अपने आप में उतनी आश्चर्यजनक नहीं हैं जितनी उसके अंदर के दूसरे कण और क्रियायें महत्त्वपूर्ण हैं, इनमें से नाभिक का केंद्रक (न्यूक्लियस) और उसमें लिपटे हुए क्रोमोसोम, स्पूतनिक की तरह कोशिका के आकाश में स्थित 'सेंटोसोम' जो कोशों के विकास में सहायक होता है, पारदर्शी गुब्बारे जैसा वह भाग जो भोजन को शक्ति में बदलता है, वह भी एक से एक बढ़कर आश्चर्यजनक हैं। न्यूक्लियस कोशिका का वह गुंबदाकार भाग है, जहाँ से पूरे शरीर का सूत्र संचालन होता है। गुण सूत्र (क्रोमोसोम)

की जटिलता और भी अधिक है, क्योंकि उन पर व्यक्ति के गुण, शारीरिक विकास और आनुवंशिकता आधारित है, इसलिए इनकी खोज में वैज्ञानिक तीव्रता से जुट गये।

'जीन्स' जिन्हें आज का वैज्ञानिक जीवन की इकाई मानता है, इन्हीं गुण-सूत्रों का ही अत्यंत सूक्ष्म अवयव है। जिस प्रकार एक डोरे में थोड़ी-थोड़ी दूर पर गाँठें लगा देते हैं, इन गुण सूत्रों में भी गाँठें लगी हुई हैं, इन गाँठों को ही "जीन्स" कहते हैं। एक कोशिका के जीन्स जो कुंडली मारे बैठे रहते हैं, उन्हें यदि खींचकर सीधा कर दिया जाए तो ५ फीट तक लंबे पहुँच सकते हैं। हमारा शरीर चूँकि कोशिकाओं की ईंटों से बना हुआ होता है और एक युवक के शरीर में यह कोशिकायें ६०० खरब तक होती हैं, इसलिए यदि संपूर्ण शरीर के 'जीन्स' को खींचकर रस्सी बनाई जाये तो यह इतनी बड़ी होगी, जिससे सारे ब्रह्मांड को नाप लिया जाना संभव हो जायेगा।

आत्मा संपूर्ण जगत् में व्याप्त है। संभवतः यह जीन्स उस भारतीय मत की पुष्टि करें। पर जीन्स को ही आत्मा नहीं मान लेना चाहिए। वह चेतन आत्मा का एक अणु हो सकता है, पर आत्मा नहीं। सूर्य एक आत्मा है, उसकी एक किरण वहाँ से चलती है और किसी स्थान पर वहाँ की ऊर्जा पहुँचाती रहती हैं, बहुत संभव है, उसी तरह उस किरण जाल से सूर्य भी स्थान-स्थान की खोज-खबर लेता रहता हो। यह किरणें भी प्रकाश के छोटे अणु (एटम) से बने हैं और प्रत्येक अणु में सूर्य जैसी क्षमतायें विद्यमान होती हैं, उतनी ही ऊर्जा (एनर्जी) उतनी ही चमक और वैसी ही आकृति, पर वह सूर्य नहीं हो सकता, वह तो सूर्य का एक अणु मात्र है। अणु को पकड़ा, तोड़ा और मरोड़ा जा सकता है, पर सूर्य को तोड़ डालने की शक्ति विज्ञान ने कहाँ पाई है ? सूर्य अपने आप में एक स्वतंत्र सत्ता है।

'जीन्स भी ऐसे ही हैं। मनुष्य का कुछ छोटा या बड़ा होना, उसके बाल काले, भूरे या घुँघराले होना, नाक चौड़ी या पतली होना, आँखें नीली, काली या भूरी होना—यह सारी बनावट जीन्स

की बनावट पर निर्भर है, यदि विस्तृत खोज की जाए तो गर्भस्थ शिशु का एक दिन इच्छानुवर्ती निर्माण संभव हो जाएगा। आनुवंशिक (हेरेडेटरी) रोगों का इलाज भी तब संभव है जब जीवधारी के पृथ्वी पर आने से पहले ही कर दिया जा सके। आदम, ईसा या कर्ण जैसा अमैथुनी मनुष्य भी बनाया जा सके, पर यह सब मनुष्य की इच्छा पर नहीं, किसी पर्दे में काम करने वाली शक्ति की इच्छा पर ही होगा। मनुष्य जीवों का विकसित रूप नहीं, वरन् वह अमैथुनी क्रिया द्वारा ही पैदा हुआ है, यह भारतीय दर्शन की मान्यता है। जो आज की वैज्ञानिक दृष्टि में सत्य सिद्ध हो रहा है, पर वह मनुष्य के लिए नितांत संभव नहीं।

यह बात हम नहीं वह वैज्ञानिक भी जिन्होंने जीन्स का भी रासायनिक विश्लेषण कर लिया है, मानने लगे हैं। डॉ० विल्किन्स ने बताया कि जीन्स सर्पिल आकार के अणुओं से बने होते हैं, यह अणु 'डी आक्सी राइबो न्यूक्लियक एसिड' (संक्षेप में डी० एन० ए०) के नाम से जाने जाते हैं। इन्हें केवल एक लाख गुना बढ़ाकर दिखाने वाली (मैग्नीफाइंग पावर) खुर्दबीन (माइक्रोस्कोप) से ही देखा जाना संभव है। इस दिशा में हारवर्ड यूनिवर्सिटी अमेरिका के डॉ० जेम्स वाट्सन और कैंब्रिज यूनिवर्सिटी की कैवेंडिश लैबोरेटरी के डॉ० फ्रांसिस क्रिक ने विस्तृत अनुसंधान किये। उन्होंने चार प्रमुख नाइट्रोजन यौगिकों १. एडीनाइन, २. साइटो साइन, ३. गुएनाइन और थाईममाइन और फास्फेट व एक प्रकार की शर्करा के रासायनिक संयोग से प्रयोगशाला में ही डी० एन० ए० अणु (मालेक्यूल) का माडल बनाकर सारे संसार को आश्चर्यचकित कर दिया। यह जीवन-जगत् में हलचल पैदा करने वाली खोज थी। उसके आधार पर अमैथुनी कृत्रिम गर्भाधान ही संभव न हुआ, वरन् चिकित्सा और शरीर विकास की अनेक अद्‌भुत सफलताओं का स्रोत खुल गया। डी० एन० ए० की सफलता एक दिन ऐसे शरीर बना

सकेगी, जो बाजारों में साधारण मनुष्यों की तरह घूमा-फिरा करेंगे, फिर भी कोई समझ न पायेगा कि क्या ये कृत्रिम मानव हैं ?

१९६२ में इन तीन वैज्ञानिकों को जब इस संबंध में नोबुल पुरस्कार दिया गया तो उन्होंने ही कहा—"सूत्र हाथ में आ गया—सूत्रधार नहीं।" संभव है, एक दिन वह भी हाथ लग जायेगा और तब आज जो मनुष्य प्रकृति के इशारे पर नाचता है तब प्रकृति उस इंगित पर चलने लगे; पर अभी तो स्थिति यह है कि मनुष्य जीवन की सारी गतिविधियाँ, जिनका आदेश जीन्स के द्वारा मिलता है, वह किसी और की हैं। जीन्स तो उसके आदेश कोशिका तक पहुँचाते रहते हैं। एक कोशिका से दूसरी कोशिका तक सारे शरीर पर कार्य संचालन जीन्स के द्वारा दिये गये आदेशों पर चलता है। यह आदेश भी किसी भाषा में नहीं होते, वरन् उसकी भी एक रासायनिक पद्धति है।

जीन्स से कोई तत्त्व कोशिका में गया तो वह भाग खाली होते ही ऊपर से कोई और तत्त्व को पहुँचाने की आवश्यकता प्यास रूप में प्रकट हुई। किसी ने कहा नहीं, पर हम उठे और पानी पिया। पानी पीने की प्रेरणा जीन्स ने कोशिकाओं को दी, हाथ ने उठाकर पानी पी लिया, पर जीन्स को वह आदेश किसने दिया ? क्या जीन्स ही की इच्छा थी वह। यदि ऐसा होता तो प्रयोगशाला में बनने वाला डी० एन० ए० भी अपनी इच्छा से विकसित होने लगता।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक मुलर ने १७ वर्ष तक मक्खियों पर विविध प्रयोग करके देखा कि जीव का प्रत्येक 'कोश' प्रोटीन से बना है और जब इस प्रोटीन का रासायनिक विश्लेषण किया जाता है तो उसमें अनेक प्रकार के 'एसिड्स' और रासायनिक द्रव्य पाये जाते हैं; जो बदलते, घटते और बढ़ते भी रहते हैं। उसने ऐसे अनेक प्रयोग किए और यह प्रयत्न किया कि रासायनिक स्थिति में परिवर्तन करके क्या शारीरिक रचना में कोई परिवर्तन किया जा सकता है। इसमें उसे कोई सफलता न मिली, क्योंकि इन तत्त्वों के मूल में जो 'जीन' नामक तत्त्व था उस पर किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं हो रही थी। अर्थात् उस पर ताप, विष, शीत आदि का भी प्रभाव नहीं हो रहा था। ऐसे

प्रयोग पहले भी हो चुके थे। इस बार जब मुलर ने एक्स किरणों का प्रयोग किया और वे गुण-सूत्रों को भेदकर 'जीन' तक पहुँचीं तो उसमें असाधारण हलचल हुई और तब जो नई मक्खियाँ पैदा हुईं, उनका आकार-प्रकार बिल्कुल ही भिन्न निकला और इस तरह इस सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ कि 'जीन' ही जीवन से संबंधित कोई तत्त्व है और उससे अधिक कोई जानकारी वैज्ञानिक प्राप्त नहीं कर सके।

हाँ, यह अवश्य हुआ कि उन्होंने कोश के मूल को जब सूक्ष्म दर्शन यंत्रों से देखा तो उस परमाणु में ही उन्हें विशाल ब्रह्मांड की झाँकी अवश्य मिली। यह देखा गया कि वहाँ कई सूर्यों जितनी ऊर्जा और चमक विद्यमान है तो भी जीन के उस कारण शरीर की अभी तक कोई जानकारी वैज्ञानिक प्राप्त नहीं कर सके।

अभी इस जीन्स से भी कोई अति सूक्ष्म और सर्वव्यापी सत्ता है, इसका प्रमाण उसी की संरचना से मिल जाता है। उदाहरणार्थ—डी० एन० ए० पर ही लगभग एक अरब एमीनो एसिड क्रम से लगे रहते हैं, इन्हें वह अक्षर कह सकते हैं, जो मिलकर जीन्स की आकांक्षा को व्यक्त करते हैं। जैसे भूख-प्यास, बोलना, उठना-बैठना, मिलना-जुलना, सोना, स्वप्न देखना आदि। इनका ही क्रम मनुष्य के गुणों का निर्धारण करता है। मरोड़ी हुई सीढ़ी की शक्ल में यह अणु एक जीन्स की शक्ल में दिखाई देते हैं। उन सबकी अनुभूतियाँ अलग-अलग हैं, इससे यह पता चलता है कि जीन्स जहाँ कोशिका की आत्मा है, वहाँ वह शरीरगत् संपूर्ण चेतना का एक अंग भर है और उससे अधिक कुछ नहीं।

शरीर को सामाजिकता के अधीन रहना पड़ता है। प्रत्येक जीन्स एक स्वतंत्र अस्तित्व होता, तो वह शरीर के प्रत्येक अंग से मनुष्य पैदा करना आरंभ कर देता किंतु ऐसा वह नहीं कर सकता। मनुष्य भी परमात्मा का एक अंश है, वह अपने दायरे में निर्माण, पालन और संहार के कार्य किया करता है, पर वह विश्व-इच्छा के अधीन है। उसकी अपनी सत्ता उस सामाजिकता से अलग रही होती, तो वह अपनी इच्छा से जन्म और मृत्यु का स्वामी हो जाता।

❑ ❑

सुविकसित संतान के लिए वैज्ञानिक प्रयास

मनुष्य शरीर इतना विलक्षण और अद्भुत है कि विज्ञान के द्वारा बड़ी-बड़ी गुत्थियों को सुलझा लेने तथा रहस्यों को समझ लेने के बाद भी मनुष्य शरीर को पूरी तरह नहीं समझा जा सका है। अपनी काया को ही लिया जाय—हम जानते हैं कि हमारी काया का स्थूल भाग—अन्नमय कोश—छोटी-छोटी कोशिकाओं (सैल्स) से बना है। इन कोशिकाओं के अंदर एक द्रव्य 'साइटोप्लाज्म' (वसामय पीला सा द्रव पदार्थ) भरा रहता है। इसके बीच में अवस्थित होता है—कोशिकाओं का नाभिक अथवा केंद्रक (न्यूक्लियस)। पुरुष की शुक्राणु कोशिका अथवा नारी की अंडाणु या डिंबाणु कोशिका के नाभिक में छोटे-छोटे धागे जैसे गुण सूत्र (क्रोमोसोम) होते हैं। एक नाभिक में इसके २३ या २४ जोड़े होते हैं। इन्हीं से लाखों की संख्या में 'जीन्स' चिपके रहते हैं। नये मनुष्य शरीर के निर्माण तथा उनमें आनुवंशिकीय गुण-धर्मों का विकास इन्हीं पर निर्भर करता है।

यह जीन्स क्या हैं ? कैसे यह अपनी आश्चर्यजनक भूमिका पूरी करते हैं ? इस रहस्य पर से विज्ञान अभी पर्दा उठा नहीं सका है। उनके संबंध में बड़ी तेजी से शोध कार्य चल रहे हैं, बहुत से रहस्य खुले भी हैं, फिर भी वह नहीं के बराबर हैं।

अभी तक के अध्ययन के आधार पर 'जीन्स' छोटे-से विद्युन्मय पुटपाक या पुड़िया (पैकेट) हैं। माना जाता है कि इनकी रचना कई तरह के न्यूक्लियस अम्लों के संयोग से हुई है। उसमें से अभी केवल दो के बारे में जाना जा सका है। वे हैं—(१) डी० एन० ए० (डी० ऑक्सी राइबो न्यूक्लिक एसिड) (२) आर० एन० ए० (राइबो न्यूक्लिक एसिड)।

जीन्स की संरचना के बारे में अभी तक नहीं जाना जा सका है, किंतु यह जानकारियाँ निश्चित रूप से हो गई हैं कि शरीर के अंग-प्रत्यंग को विशिष्ट रचना से लेकर अनेक परंपरागत स्वभावों,

रोगों तथा गुणों के विकास की आश्चर्यजनक क्षमता इनमें है। इनके गुणों और कार्यकलापों को कैसे नियंत्रित किया जाय ? यह पता विज्ञान अभी नहीं लगा सका है, किंतु यह माना जाने लगा है कि यदि 'जीन्स' के गुणों और कार्य-प्रणाली को प्रभावित किया जा सके, तो आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। वह अन्नमय कोश के छोटे-से-घटक एक कोशिका के नाभिक में रहने वाले नगण्य आकार वाले विद्युन्मय पैकेट मनुष्य के आस-पास के वातावरण से लेकर उसके विचारों और भावनात्मक विशेषताओं के संस्कार ग्रहण करने में समर्थ हैं।

मनुष्य के विकास के संबंध में भारतीय मान्यता यह रही है कि उस पर आनुवंशिकता के साथ-साथ बाह्य वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। पहले इस मान्यता के प्रति उपेक्षा बरती जाने लगी थी।

यह स्पष्ट हो गया है कि अपने वातावरण तथा अपनी चेष्टाओं द्वारा व्यक्ति जिन स्वभाव-गुणों को अर्जित करता है, वे वंशानुक्रम से प्राप्त नहीं होते और न ही कोई व्यक्ति उन अर्जित विशेषताओं को वंशानुक्रम द्वारा अपने बच्चों को प्रदान कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति ने अनेक भाषाएँ सीखी हैं, तो वह उस भाषा ज्ञान को अपने बच्चों को वंशानुक्रम द्वारा नहीं दे सकता। बच्चों को भी भाषा-ज्ञान की प्रचलित विधियों को ही अपनाना होगा तथा मेहनत करनी पड़ेगी। वहीं दूसरी ओर यह भी स्पष्ट हो गया है कि वंशानुक्रम का निश्चित प्रभाव संतान पर पड़ता है। आनुवंशिकी (जेनेटिक्स) का सारा ढाँचा ही इसी आधार पर खड़ा है। यह सही है कि कोई भी व्यक्ति जंगली बेर के बीज बोकर उनसे गुलाब के फूलों की आशा नहीं कर सकता। गौरैया के अंडों को सेकर उनमें से मोर के बच्चे कौन निकाल सकता है ? लेकिन जिन पौधों के बीज बोये जाते हैं, उनसे उन्हीं जैसे पौधे आखिर क्यों उगते हैं ? चूहों से चूहे और बिल्ली से बिल्ली ही क्यों पैदा होती है ? इसका उत्तर है आनुवंशिकता अर्थात्

नियमित वंश परंपरा, जिसके कारण ही ऐसा होता है। जो वस्तु जिस वंश की होगी, उसका बीज डाले जाने पर वैसा ही फल होगा। आनुवंशिकता में काम करने का ढंग भी शामिल है और चीजों का कद तथा रंग भी। उदाहरण के लिए बया पक्षी को बढ़िया लटकने वाला घोंसला बनाना किसी को सिखाना नहीं पड़ता है।

आनुवंशिकता अपने पूर्वजों से मिलने वाली विशेषताओं का ही दूसरा नाम है। वैज्ञानिक जानते हैं कि जीवों में जो विशेषताएँ होती हैं, वे उन्हें अपने माता-पिता से अत्यंत सूक्ष्म कणों के रूप में मिलती हैं। इन सूक्ष्म कणों को 'जीन' कहा जाता है। हमारा शरीर बहुत-सी कोशिकाओं से मिलकर बना है। 'जीन' कोशिका का ही एक भाग है। अगर किसी वट-वृक्ष की शाखा को कहीं उसके अनुकूल स्थान में ले जाकर बो दिया जाये तो वह भी मूल पेड़ की तरह ही फलने-फूलने लगेगी। उसकी कोशिकाओं के 'जीन' अपने पहले के पेड़ की ही भाँति होंगे। ठीक उसी तरह जिस तरह किसी स्पंज के टुकड़े में वैसे ही छिद्र होते हैं, जैसे उस स्पंज में थे, जिसमें से कि टुकड़े को तोड़ा गया है।

अधिकांश पौधों और जीवों की उत्पत्ति नर और मादा से होती है। कुछ 'जीन' नर से और कुछ मादा से मिलते हैं। झरबेरी झाड़ी के बीज गुलाब तो नहीं, लेकिन ऐसा पौधा अवश्य उगा सकते हैं, जिसमें एक की बजाय दो तरह के फूल हों। काली बिल्ली का बच्चा एकदम सफेद हो सकता है। यदि कोई पौधा या जानवर दो तरह की विशेषता के "जीन" आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त करता है और दोनों का प्रभाव बराबर बना रहता है तो दोनों के मिलने से तीसरी विशेषता उत्पन्न होती है। अगर लाल गाय और सफेद रंग का साँड़ हो तो उनका बछड़ा न तो सफेद होगा और न लाल। वह भूरा यानी दोनों के बीच के रंग का हो सकता है। ऐसा हो जाने के नियम की वैज्ञानिक व्याख्या आनुवंशिकता के सिद्धांत के आधार पर की जाती है। 'जीन' ही इस आनुवंशिकता

के वाहक हैं और आनुवंशिकता की बुनियादी इकाई हैं। अभी तक किये गये परीक्षणों से यही जाना जा सका है कि व्यक्ति की शारीरिक विशेषताएँ जैसे रंग, रूप, नेत्र, त्वचा, खून का प्रकार, लंबाई, ठिगनापन आदि सब ही आनुवंशिक और पितृागत होते हैं। ये शारीरिक गुण भी मात्र माता-पिता से नहीं प्राप्त होते, वरन् वे दादा, परदादा तथा अन्य पूर्वजों से क्रमशः संक्रमित होकर आते हैं। वंशानुगत गुणों में माता-पिता का दाय प्रत्येक गुण में आधा होता है—यानी माँ का एक चौथाई और पिता का एक चौथाई। उसके पूर्व के चार पितरों में प्रत्येक का दाय प्रत्येक गुण का सोलहवाँ भाग होता है अर्थात् चारों पितरों का कुल दाय एक चौथाई भाग होता है। शेष १ चौथाई और पुरानी पीढ़ियों से आते हैं।

व्यक्ति के संस्कार तो उसके जन्म-जन्मांतरों की संचित संपदाएँ और साधन हैं, किंतु उसके उपयुक्त उपकरण-अन्नमय-कोश के निर्माण के घटक जीन्स-क्रोमोसोम का भी स्वरूप-निर्धारण कितनी सूक्ष्मताओं और जटिलताओं के आधार पर होता है, यह आनुवंशिकी की आधुनिक खोजों द्वारा भी स्पष्ट होता है। भारतीय मनीषी इन सूक्ष्मताओं से परिचित थे, तभी वे सुसंतति के लिए माता-पिता का चरित्रगत, तपस्वी—संयमी होना अनिवार्य बतलाते थे। इस प्रकार व्यवस्थित कर व्यक्ति न केवल सुयोग्य संतति के जनक-जननी बनने की क्षमता से, अपितु उन अनेक विशिष्ट क्षमताओं, विभूतियों से संपन्न बनता है, जिनसे मनुष्य शरीर की सार्थकता और गरिमा है।

आनुवंशिकता का प्रभाव बिल्कुल सीधा और स्थूल नहीं होता। उदाहरण के लिए किसी माता-पिता में से दोनों को या किसी एक को टी० बी० रोग (क्षय रोग) हो तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि बच्चे को जन्म से ही टी० बी० (क्षय रोग) होगा, अपितु इसका यह अर्थ है कि बच्चे के शरीर में ऐसी वृत्ति या

तत्परता विद्यमान है कि क्षय रोग के कीटाणु शरीर में पहुँचते ही वहाँ जड़ पकड़ लेंगे।

इसी प्रकार मान लीजिए कि कोई बढ़ई है, जो अपने काम में बड़ा दक्ष है। यह कार्यदक्षता बच्चे में जन्मजात रूप से नहीं उत्पन्न होती, अपितु यदि बच्चे को भी कुशल बढ़ई बनाना है, तो उसे बढ़ईगीरी का काम सिखाना ही होगा। हाँ, उस बच्चे के हाथ ऐसे हो सकते हैं, जिनके द्वारा कि उन औजारों का अधिक अच्छा उपयोग संभव हो, जो बढ़ईगीरी के काम आते हैं।

इसीलिए आनुवंशिकता और पर्यावरण दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है। आनुवंशिकता द्वारा अर्जित गुण नहीं प्राप्त होते। कुछ जन्मजात गुणों का आधार ही आनुवंशिकता को माना जाता है। ये जन्मजात गुण वंशानुक्रम के लक्षण कहे जाते हैं। वंशानुक्रम के लक्षण क्रोमोसोमों के आधार पर प्राप्त होते हैं। क्रोमोसोमों में होते हैं—जीन, जो व्यक्ति के "करेक्टरिस्टिक्स" का निर्माण करते हैं।

'जीन' का व्यवहार या आचरण से सीधा संबंध नहीं होता। जीन शरीर के ऊतक तथा अंगों के विकास को निर्देशित-नियंत्रित करते हैं। इस प्रकार वे शरीर की क्रियाशीलता को भी नियंत्रित करते हैं। शरीर की ये क्रियाएँ स्पष्टतः व्यवहार को भी प्रभावित करती हैं और उस रूप में जीन्स का संबंध व्यवहार से भी होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति वंशानुक्रम से छोटी टाँगें, ठूँठदार अँगुलियाँ या बहरे कान प्राप्त करता है तो निश्चय ही कुछ क्षेत्रों में उसकी योग्यता सीमित हो जायगी, इसी प्रकार शारीरिक क्रियाओं में भाग लेने वाले हजारों रासायनिक तत्त्व भी जीन्स द्वारा ही निर्धारित होते हैं। जैसे दृष्टि के लिए प्रकाश संवेदी तत्त्व याकि रक्त के जमने में कई रासायनिक तत्त्व योग देते हैं। इन तत्त्वों की उपस्थिति सशक्तता या दुर्बलता का संबंध जीन से ही होता है। ऐसे अनेक लक्षण वंशानुक्रम से संबंधित होते हैं।

वंशानुक्रम के आधारभूत घटकों, जीन्स और क्रोमोसोम्स के अध्ययनों के निष्कर्ष इस तथ्य के द्योतक हैं कि संतति निर्माण का सूक्ष्म आधार कितना व्यापक और जटिल होता है ? पौष्टिक भोजन मात्र से ही शरीर सुदृढ़ नहीं हो जाता। इसके विपरीत उसकी सुदृढ़ता ही भोजन के रस-परिपाक का कारण व आधार बनती है। बढ़िया खाने-पहनने की चिंता करते रहने को ही जीवन का पुरुषार्थ मान बैठने वाले अन्नमय कोश के निर्माण के आधारों से अनभिज्ञ रहकर उसे अस्त-व्यस्त और दूषित, विकृत बनाते रहते हैं और भावी संततियों को भी उस विकृति का अभिशाप दे जाते हैं।

एक जीन-युग्म शरीर के किसी विशेष 'करेक्टरिस्टिक' के विकास का निर्देश करता है। आँखें भूरी हैं या नीली, बाल घने काले हैं या हल्के स्वर्णिम हैं अथवा लाल, घुँघराले हैं या सीधे, सामान्य बाल हैं या गंजापन है। दृष्टि सामान्य है या रतौंधी ज्यादा होने की संभावना है। श्रवण-शक्ति सामान्य है या जन्मजात बहरापन है। रक्त सामान्य है या कि "हीमोफीलिया" का दोष है। रंग-बोध स्पष्ट है या वर्णांधता दोष है। उँगलियों या अँगूठों की संख्या सामान्य है या कम-अधिक है, किसी जोड़ में कोई उँगली छोटी-बड़ी तो नहीं है। सभी अवयव सामान्य हैं या कुछ अवयव विरूप हैं, आदि सभी शारीरिक 'करेक्टरिस्टिक्स' जीन-युग्मों पर ही निर्भर करते हैं।

फ्रांसीसी दार्शनिक मांटेन को ४५ वर्ष की आयु में पथरी की बीमारी हुई। उनके पिता को यह रोग २५ वर्ष की आयु में आरंभ हुआ। जबकि मांटेन के जन्म के समय उनके पिता सिर्फ इक्कीस वर्ष के थे। उस समय उन्हें यह रोग नहीं था। लेकिन उनके जीन्स में इस रोग के आधार विद्यमान थे। मांटेन की पित्ताशय की पथरी की बीमारी कई पीढ़ियों से चली आ रही थी।

बालकों का 'गैलेक्टोसीमियाँ' रोग जीन्स से ही संबंधित होता है। वह जीन जब "यूरी डायल ट्रांसफरे एंजाइम" नहीं बनने देता,

तो बच्चे दूध में रहने वाली मिठास—गैलेक्टोस को पचा नहीं पाते। फलतः वह खून में जमा होती रहती है और जिगर में इकट्ठी होकर बच्चे का पेट खराब कर देती है तथा मृत्यु का भी कारण बन बैठती है।

"एक्रोडमे टाइटिस ऐटेरोपैथिका" नामक रोग का कारण भी मुख्यतः जीन्स की विकृतियाँ ही होती हैं। आँख का कैंसर—रेटीनो ब्लास्टीमा—जीन्स-दोष का ही परिणाम है। जीन्स की 'एक्रोड्रोप्लासिया'—विकृति के कारण बच्चे अविकसित रह जाते हैं। वे जल्दी मरते हैं। बच गये तो भी वंश-वृद्धि में असमर्थ होते हैं। ऐसे दोष वाली महिलाएँ गर्भवती होने पर स्वयं की भी प्राण-रक्षा नहीं कर पातीं, बच्चे की जान तो खतरे में होती ही है।

भावी पीढ़ी का निर्माण

अच्छा बीज अच्छी जमीन में बोया जाय तो उससे मजबूत पौधा उगेगा और उस पर बढ़िया फल-फूल आवेंगे। इस तथ्य से क्या शिक्षित, क्या अशिक्षित सभी परिचित हैं ? जिन्हें कृषि एवं उद्यान से अच्छा प्रतिफल पाने की आकांक्षा है, वे इस तथ्य पर आरंभ से ही ध्यान रखते हैं कि उत्पादन के मूलभूत आधारों को सतर्कता के साथ जुटाया जाय और उनका स्तर ऊँचा रखा जाय।

यों विवाह एक निजी मामला समझा जाता है और संतानोत्पादक को भी व्यक्तिगत क्रियाकलाप की परिधि में सम्मिलित करते हैं, पर वस्तुतः यह एक सार्वजनिक, सामाजिक एवं सार्वभौम प्रश्न है, क्योंकि भावी पीढ़ियों के निर्माण की आधारशिला यही है। राष्ट्र और विश्व का भविष्य उज्ज्वल एवं सुसंपन्न बनाने की प्रक्रिया धन-समृद्धि पर टिकी हुई नहीं है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि भावी नागरिकों का शारीरिक, बौद्धिक एवं चारित्रिक स्तर कैसा होगा ? धातुएँ, इमारतें या हथियार नहीं, किसी राष्ट्र की वास्तविक संपदा वहाँ के नागरिक ही होते हैं। वे जैसे भी भले या बुरे होंगे, उसी स्तर का समाज, समय एवं वातावरण बनेगा।

इसलिए भावी प्रगति की बात सोचने में हमें सुसंतति के निर्माण की व्यवस्था जुटाने की बात भी ध्यान में रखनी चाहिए।

घरेलू पशुओं यहाँ तक कि पालतू कुत्ते, बिल्लियों तक के बारे में हमारे प्रयास यह होते हैं कि उनकी संतानें उपयुक्त स्तर की हों। जिन्हें इस उद्‌देश्य को पूरा करने में रुग्ण, दुर्बल अथवा अयोग्य समझते हैं, उनका प्रजनन प्रतिबंधित कर देते हैं। इस प्रतिबंधन-प्रोत्साहन में उचित वंशवृद्धि की बात ही सामने रखी जाती है। क्या मानव प्राणी की नसलें ऐसे ही अस्त-व्यस्त बनने दी जानी चाहिए, जैसी कि इन दिनों बन रही हैं ? क्या इस संदर्भ में कुछ देख-भाल करना या सोचना-विचारना समाज का कर्तव्य नहीं है ? क्या बच्चे मात्र माता-पिता की ही संपत्ति हैं ? क्या उनका स्तर समाज को प्रभावित नहीं करता ? इन बातों पर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि किसी राष्ट्र या समाज का भविष्य उसकी भावी पीढ़ियों पर निर्भर है। यदि सुयोग्य नागरिकों की जरूरत हो तो भोजन, चिकित्सा अथवा शिक्षा का प्रबंध भर कर देने से काम नहीं चलेगा। इस सुधार का क्रम सुयोग्य जनक-जननी द्वारा सुविकसित संतान उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व निबाहने से होगा। यह तैयारी विवाह के दिन से ही आरंभ हो जाती है। यदि पति-पत्नी की शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्थिति सुयोग्य संतान के उत्पादन तथा भरण-पोषण से उपयुक्त नहीं हैं तो उनके द्वारा की जाने वाली वंशवृद्धि अवांछनीय स्तर की ही बनेगी और उसका दुष्परिणाम समस्त समाज को भुगतना पड़ेगा।

वंशानुक्रम विज्ञान की चर्चा इन दिनों जोरों पर है। जनन रस में पाये जाने वाले गुण-सूत्रों को भावी पीढ़ियों के निर्माण का सारा श्रेय दिया जा रहा है। इन जीव कणों में हेर-फेर करके ऐसे उपाय ढूँढ़े जा रहे हैं, जिनके आधार पर मन चाहे आकार-प्रकार की संतानों को जन्म दिया जा सके। इस अत्युत्साह में अभी तक आंशिक सफलता ही मिली है, क्योंकि गुण सूत्रों ने आकृति तक में

अभीष्ट परिवर्तन प्रस्तुत नहीं किया, फिर प्रकृति के परिवर्तन की तो बात ही क्या की जाय ?

प्रयोगशालाओं में ऐसी विधि-व्यवस्था सोची जा रही है, जिससे अभीष्ट स्तर की संतान पैदा की जा सके। इस दिशा में जी तोड़ प्रयत्न हो रहे हैं और सोचा जा रहा है कि बिना माता का स्तर सुधारे अथवा बिना वातावरण की चिंता किये वैज्ञानिक विधा के आधार पर सुसंतति उत्पादन की व्यवस्था यांत्रिक क्रियाकलाप द्वारा संपन्न करली जायगी।

रासायनिक संयोग में हेर-फेर करके कोशाओं के स्वरूप में परिवर्तन करके मनुष्य का वर्तमान स्तर बदला जा सकेगा ऐसा पिछले बहुत दिनों से सोचा जा रहा है। इस संदर्भ में गुण सूत्रों और जीन्स की खोज-खबर ली जा रही थी। अब एक नये चरण में विज्ञान ने प्रवेश किया है और माना है कि यदि कोशाओं के स्तर में कुछ परिवर्तन करना हो तो वह रासायनिक हेर-फेर से नहीं, विद्यमान विद्युत् प्रवाह में ही कुछ उलट-पुलट करके संभव हो सकेगा। अब रसायन मुख्य नहीं रहे—उनका स्थान विद्युत् ने ले लिया है।

यह समझा जाता रहा है कि पिता के शुक्राणु लगभग वैसी आकृति के होते हैं जैसे कि पानी के पूँछदार कीड़े दिखाई पड़ते हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से उनके दो भाग किये जा सकते हैं—एक शिर दूसरा पूँछ। शुक्राणु का नाभिक शिर भाग में होता है, पूँछ उसके चलने, दौड़ने में गति प्रदान करती है। पूँछ अक्सर हिलती रहती है, जिससे शुक्र कीट आगे बढ़ता है और निषेचन के समय दौड़कर डिंब अणु के साथ जाकर मिल जाता है। यह एकाकार होने की स्थिति ही गर्भ धारण है। एक नया प्राणी इस सुयोग-संयोग से उत्पन्न होता है।

शुक्राणु और डिंबाणु की उपरोक्त व्याख्या स्थूल है। उनके भीतर भी बहुत बारीक कण होते हैं। क्रोमोसोम—उनसे भी सूक्ष्म जीन्स को प्रजनन शक्ति का उत्तरदायी कहा जा सकता है। जीन्स

में भी प्रोटीन की कुछ मात्रा और डी० एन० ए० (डी० ऑक्सी राइबोन्यूक्लिक एसिड) नामक पदार्थ रहता है। इसी क्षेत्र में वंश परंपरा की शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ समाविष्ट रहती हैं। वे विशेषताएँ केवल माता-पिता की ही नहीं होती, वरन् वे भी मातृ पक्ष और पितृ पक्ष की पीढ़ी-दर-पीढ़ी से जुड़ी हुई चली आती हैं। उनमें भी संयोग-वियोग के आधार पर हुए परंपरागत और कुछ समन्वयात्मक विशेषताएँ उभरती रहती हैं। इसी उथल-पुथल के कारण सभी भाई-बहिन एक जैसे आकार-प्रकार के नहीं बन पाते यद्यपि उनमें बहुत-सी विशेषताएँ एक जैसी भी बनी रहती हैं।

'दि ब्रेव न्यू वर्ल्ड' नामक ग्रंथ में जीव विज्ञानी एडलस हक्सले ने डिंब और शुक्र-कीटों के क्रियाकलाप को मात्र रासायनिक संयोग नहीं माना है, वे उन्हें 'अल्फा', 'बीटा' और 'गामा' किरणों का उत्पादन मानते हैं।

पूर्वजों के जीन्स अपने साथ जिन विशेषताओं को लपेटे चलते हैं, उनमें बहुत सी अच्छी होती हैं और बहुत सी बुरी। परंपरागत बीमारियों का लिपटा हुआ कुचक्र परिधान निश्चित रूप से बुरा है।

अफ्रीका महाद्वीप के कांगो देश में तीन-चार फुट ऊँचे बौनों की बड़ी संख्या है, वे शिकार पर निर्वाह करते हैं और आदिवासी यायावरों की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान में अपने डेरे डालते रहते हैं। पेरू के जंगलों में यूस जाति के ऐसे आदिवासी पाये गये हैं जिनकी ऊँचाई तीन फुट से अधिक ऊँची नहीं बढ़ती, वरन् कुछ नीची ही रह जाती है। माल्योनैटो के रोम कैथलिक चर्च द्वारा प्रकाशित 'रीजन फ्राम दी जंगल' पुस्तक में उन बौनी जातियों की वंश परंपरा पर अधिक प्रकाश डाला गया है। इन 'यूस' जाति के बौनों की अधिक संख्या ब्राजील, बोलीलिया तथा क्यूरा नदी के तट पर पाई जाती है। यह लोग २० कबीलों में बँटे हुए हैं।

बंगलौर में वी० एन० थिम्मया नामक एक नाई के घर ऐसा बालक जन्मा था, जो जन्म के समय तो केवल ५.१४ पौंड का था,

पर कुछ दिन बाद तेजी से उसका शरीर फैलने-फूलने लगा। ११ वर्ष की उम्र पर पहुँचने तक वह १६२ पौंड भारी और ५० इंच ऊँचा हो गया। इतना ही नहीं उसकी छाती ४६ इंच की हो गई। लगभग फुटबाल जैसा गोल-मटोल वह दिखाई पड़ने लगा। बढ़ोतरी इस तेजी से हुई कि हर महीने कपड़े रद्द करना और नये बनवाना उस गरीब आदमी के लिए अत्यंत कठिन हो गया। अच्छा इतना ही रहा कि खुराक साधारण स्तर के बालकों जितनी ही बनी रही।

न्यूयार्क विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में बफेले नगर की प्रयोगशाला ने इस असंभव समझे जाने वाले कार्य को संभव करके दिखाया है। विश्वविद्यालय के अनुसंधान संबंधी उपाध्यक्ष डॉ० रेमंड इवेल तथा जीव विज्ञान केंद्र के निर्देशक जेक्स डेनिमाली द्वारा इस शोध निष्कर्ष की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वंश परंपरा से चली आ रही आकृति-प्रकृति तथा शारीरिक, मानसिक स्थिति में अब आमूल-चूल परिवर्तन कर सकना संभव हो सकेगा। वंश परंपरा की बीमारियों पर काबू प्राप्त किया जा सकेगा। सूक्ष्म कोषों की शल्य क्रिया करना, उनमें दूसरे कोषों के आंशिक पैबंद लगा सकना संभव होने से यह भी शक्य हो जाएगा कि इच्छानुरूप विशिष्टताओं वाले बच्चे पैदा किये जा सकें। सन् १९६७ का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले विज्ञानी डॉ० आर्थर कार्नबर्ग ने कैलीफोर्निया के स्टेन फोर्ड विश्वविद्यालय में जीवकोषों का प्राण 'डी० एन० ए०' खोजा था। अब उस खोज ने इतनी प्रगति कर ली है कि जीव कोषों की स्थिति में इच्छानुसार एवं आवश्यकतानुसार फेर बदल किया जा सके।

न केवल वंश परंपरा की दृष्टि से वरन् मनुष्य की रोग मुक्ति, बलवृद्धि तथा दीर्घजीवन की दृष्टि से इन कोशा-कणों की स्थिति में सुधार-परिवर्तन अपेक्षित है। यह कार्य दवादारू के आधार पर अथवा आहार-विहार के मोटे परिवर्तनों से भी संभव नहीं हो सकता। मनुष्य का शरीर भवन जिन ईंटों से चुना गया है,

उन्हें कोशा या सैल कहते हैं। इन्हीं के बनने-बिगड़ने का क्रम हमें जीवित और स्वस्थ रखता है और रुग्ण, दुर्बल बनाते हुए मृत्यु के मुख मे धकेल देता है।

नित्य निरंतर कायाकल्प

सामान्यतया यह कोशाएँ टूटकर बँटती रहती हैं और नई कोशाओं को जन्म देती रहती हैं। चमड़ी की कोशाएँ प्रायः ४-५ दिन में पुरानी से बदलकर नई हो जाती हैं। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुली बदलता है, उसी प्रकार हम भी अपनी चमड़ी हर चौथे-पाँचवे दिन बदल देते हैं। यों यह बात आश्चर्य जैसी लगती है, पर वस्तुतः होता यही रहता है। जिंदगी भर में हमें हजारों बार चमड़ी की केंचुली सी बदलनी पड़ती है। यही हाल शरीर के भीतर काम करने वाले प्रमुख रसायन प्रोटीन का है। वह भी प्रायः ८० दिन में पूरी तरह बदलकर नया आ जाता है। यह परिवर्तन अपनी पूर्वज कोशाओं के अनुरूप ही होता है। अस्तु, अंतर न पड़ने में यह प्रतीत नहीं होता कि पुरानी के चले जाने और नई के स्थानापन्न होने जैसा कुछ परिवर्तन हुआ है।

इस परिवर्तन क्रम को चलाने की सीमा हर अवयव की अलग-अलग है। किसी अवयव का काया-कल्प जल्दी-जल्दी होता है, किसी का देर-देर में। इसी प्रकार उनके काम करने की—सक्षम रहने की अवधि भी भिन्न-भिन्न है। डॉ० कॅनिव रासले की पर्यवेक्षण रिपोर्ट के अनुसार मनुष्य के गुर्दे २०० वर्ष तक, हृदय ३०० वर्ष तक, चमड़ी १००० वर्ष तक, फेंफड़े १५०० वर्ष तक और हड्डियाँ ४००० वर्ष तक जीवित रह सकने योग्य मसाले से बनी हैं। यदि उन्हें संभालकर रखा जाए तो वे इतने समय तक अपना अस्तित्व भली प्रकार बनाये रह सकती हैं। इनके जल्दी खराब होने का कारण यह ही है—उनसे लगातार काम लिया जाना और बीच-बीच में मरम्मत का अवसर न मिलना। यदि इसकी व्यवस्था बन पड़े तो निश्चित रूप से मनुष्य की वर्तमान जीवन अवधि में कई गुनी वृद्धि हो सकती है।

न्यूयार्क युनिवर्सिटी के डॉ० मिलन कोपेक और राकफेलर इंस्टीट्यूट के डॉ० एलोक्सिस कैरलन द्वारा किये गये प्रयोगों में एक ही निष्कर्ष निकला है कि कोशाएँ जब तक अपनी वंश वृद्धि करने में सक्षम रहती हैं, तब तक बुढ़ापा किसी प्रकार छाने नहीं पाता, पर जैसे-जैसे वे नई पौध उगाने की क्रिया शिथिल करती हैं वैसे ही वैसे अवयव कठोर और निष्क्रिय होते चले जाते हैं और अंततः मृत्यु के मुख में जा घुसते हैं। यदि इन कोशाओं की क्षमता घटने न दी जाए और उन्हें उत्पादन की अपनी स्वाभाविक संरचना अवधि तक क्रियाशील रहने का उपाय ढूँढ़ निकाला जाय तो शरीर को अमर न सही उसे दीर्घायुषी तो बनाया ही जा सकता है।

क्रमिक गति से—स्थूल से सूक्ष्म के क्षेत्र में प्रवेश करता हुआ विज्ञान अब रासायनिक पदार्थों की परिधि लांघकर उस गहराई तक जा पहुँचा है, जहाँ शक्ति का ही साम्राज्य शेष रह जाता है। शरीर एवं मन के प्रयोजनों में लगी इस धारा को विज्ञान में मानवी विद्युत् नाम दिया है।

वैज्ञानिक भी इस मानवी विद्युत् के प्रयोग द्वारा भावी पीढ़ी को सुविकसित बनाने और उसका स्तर सुधारने के लिए प्रयत्नशील हैं। मानवी काया के निर्माण में बीज भूमिका निभाने वाले जनन-रस में पाये जाने वाले गुण-सूत्र में एक व्यक्त रूप डामिनेंट है। दूसरा अव्यक्त रूप है—रिसेसिव। व्यक्त भाग को भौतिक माध्यमों से प्रभावित किया जा सकता है और उस सीमा तक भले या बुरे प्रभाव संतान में उत्पन्न किये जा सकते हैं, पर अव्यक्त स्तर को केवल जीव की निजी इच्छाशक्ति ही प्रभावित कर सकती है। महत्त्वपूर्ण परिवर्तन इस चेतनात्मक परिधि में ही हो सकते हैं, इसके लिए रासायनिक अथवा चुंबकीय माध्यमों से काम नहीं चल सकता। इनके लिए चिंतन को बदलने वाली अंतःस्फुरणा अथवा दबाव भरी परिस्थितियाँ होनी चाहिए। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह सोचा जाने लगा है कि माता-पिता का स्तर

सुधारे बिना सुसंतति की समस्या प्रयोगशालाओं द्वारा हल न हो सकेगी। वनस्पति अथवा पशुओं में सुधार उत्पादन सरल है, पर मनुष्यों में पाये जाने वाले चिंतन तत्त्व में उत्कृष्टता भरने की आवश्यकता यांत्रिक पद्धति कदाचित् ही पूरी कर सकेगी।

'गुण-सूत्रों' में हेर-फेर करके तत्काल जिस नई पीढ़ी का स्वप्न इन दिनों देखा जा रहा है, उसे म्यूटेशन—आकस्मिक परिवर्तन प्रक्रिया कहा जा सकता है। म्यूटेशन के संदर्भ में पिछले दिनों पैवलव, मैकडुगल, मारगन, मुलर, प्रकृति जीव विज्ञानियों ने अनेक माध्यमों और उपकरणों से विविध प्रयोग किये हैं। जनन रस को प्रभावित करने के लिए उन्होंने विद्युतीय और रासायनिक उपाय अपनाये। सोचा यह गया था कि उससे अभीष्ट शारीरिक और मानसिक क्षमता संपन्न पीढ़ियाँ उत्पन्न होंगी, पर उनसे मात्र शरीर की ही दृष्टि से थोड़ा हेर-फेर हुआ। विशेषतया बिगाड़ प्रयोजन में ही सफलता अधिक मिली, सुधार की गति अति मंद रही। गुणों में पूर्वजों की अपेक्षा कोई अतिरिक्त सुधार संभव न हो सका।

एक जाति के जीवों में दूसरे जाति के जीवों की कलमें लगाई गईं और वर्णसंकर संतानें उत्पन्न की गईं। यह प्रयोग उसी जीवधारी तक अपना प्रभाव दिखाने में सफल हुए। अधिक से अधिक एक पीढ़ी कुछ बदली-बदली सी जन्मी, इसके बाद वह क्रम समाप्त हो गया। घोड़ी और गधे के संयोग से उत्पन्न होने वाले खच्चर अगली पीढ़ियों को जन्म देने में असमर्थ रहते हैं।

वर्णसंकर संतान उत्पन्न करके पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सशक्त और समर्थ पीढ़ियाँ उपजाने का उत्साह अब क्रमशः घटता चला जा रहा है। इस संदर्भ में प्रथम आवश्यकता तो यही रहती है कि प्रकृति एक ही जाति के जीवों में संकरण स्वीकार करती है। मात्र उपजातियों से ही प्रत्यारोपण सफल हो सकता है। यदि शरीर रचना में विशेष अंतर होगा तो संकरण प्रयोगों में सफलता न मिलेगी, दूसरी बात यह है कि काया की दृष्टि से थोड़ा सुधार इस प्रक्रिया से हो भी सकता है, गुणों में नहीं। वर्णसंकर गायें मोटी,

तगड़ी तो हुईं, पर अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक दुधारू न बन सकीं। इन प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकाला है कि उत्कृष्टता जीव के अपने विकास-क्रम के साथ जुड़ी हुई है, वह बाहरी उलट-पुलट करके विकसित नहीं की जा सकती।

सुसंतति के संबंध में वैज्ञानिक प्रयोग अधिक से अधिक इतना ही कर सकते हैं कि रासायनिक हेर-फेर करके शारीरिक दृष्टि से अपेक्षाकृत थोड़ी मजबूत पीढ़ियाँ तैयार कर दें, पर उनमें नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक उत्कृष्टता भी होगी, इसकी गारंटी नहीं दी जा सकती। ऐसी दशा में उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकने वाले नागरिकों का सर्वतोमुखी सृजन कहाँ संभव होगा ?

उस अत्युत्साह से अब वंशानुक्रम लगभग हतोत्साहित हो चला है और सोचा जा रहा है कि अभिभावकों को ही सुयोग्य बनाने पर ध्यान दिया जाए। एक ओर अयोग्य व्यक्तियों को अवांछनीय उत्पादन से रोका जाय, दूसरी ओर सुयोग्य, सुसंस्कृत एवं समुन्नत लोगों को प्रजनन के लिए प्रोत्साहित किया जाय। विवाह निजी मामला न रहे, वरन् सामाजिक नियंत्रण इस बात का स्थापित किया जाय कि शारीरिक ही नहीं, अन्य दृष्टियों से भी सुयोग्य और समर्थ व्यक्तियों को विवाह बंधन में बँधने और संतानोत्पादन के लिए स्वीकृति दी जाय।

जर्मनी के तीन प्रसिद्ध जीव विज्ञानियों ने वंशानुक्रम विज्ञान पर एक संयुक्त ग्रंथ प्रकाशित कराया है, नाम है—'ह्यूमन हैरेडिटी'। लेखकों के नाम हैं—डॉ० आरवेन वेवर, डॉ० अयोजिन फिशर और डॉ० फ्रिट्ज लेंज। उन्होंने वासना के उभार में चल रहे अंधाधुंध विवाह संबंधों के कारण संतान पर होने वाले दुष्प्रभाव को मानवी भविष्य के लिए चिंताजनक बताया है। लेखकों का संयुक्त मत है कि—अनियंत्रित' विवाह प्रथा के कारण पीढ़ियों का स्तर बेतरह गिरता जा रहा है, उन्होंने इस बात को भी दुःखद बताया है कि निम्न वर्ग की संतानें बढ़ रही हैं और उच्चस्तर के लोगों की संख्या तथा संतानें घटती चली जा रही हैं।

पीढ़ियों में आकस्मिक परिवर्तन—म्यूटेशन के विशेष शोधकर्ता टर्नियर का निष्कर्ष यह है कि मानसिक दुर्बलता के कारण गुण सूत्रों में ऐसी अशक्तता आती है, जिसके कारण पीढ़ियाँ गई-गुजरी बनती हैं। इसके विपरीत मनोबल संपन्न व्यक्तियों की आंतरिक स्फुरणा उनके जनन रस में ऐसा परिवर्तन कर सकती है, जिससे तेजस्वी और गुणवान् ही नहीं, शारीरिक दृष्टि से भी परिपुष्ट संतानें उत्पन्न हों। वंश परंपरा से जुड़े हुए कुष्ट, उपदंश, क्षय, दमा, मधुमेह आदि रोगों की तरह विधेयात्मक पक्ष यह भी है कि मनोबल के आधार पर उत्पन्न चेतनात्मक समर्थता पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़े और उसका सत्परिणाम शरीर, मन अथवा दोनों पर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो सके। चमत्कारी आनुवंशिक परिवर्तन इसी आधार पर संभव है, मात्र रासायनिक परिवर्तनों के लिए भौतिक प्रयास इस प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर सकते। यह तथ्य हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि जिस प्रकार परिवार नियोजन के द्वारा अवांछनीय उत्पादन रोकने का प्रयास किया जाता है, उसी प्रकार समर्थ और सुयोग्य संतानोत्पादन के लिए आवश्यक ज्ञान, आधार-साधन एवं प्रोत्साहन उपलब्ध कराया जाय।

अनियंत्रित विवाह व्यवस्था के संबंध में दूरदर्शी विचारशील व्यक्ति भारी चिंता व्यक्त कर रहे हैं और यह सोच रहे हैं कि इस संबंध में विवेक सम्मत नियंत्रण-व्यवस्था किये बिना काम नहीं चलेगा। हिंदू समाज में इन दिनों विवाह व्यवस्था कितनी भौंड़ी क्यों न हो गई हो, उस पर 'समाज' का औंधा-सीधा नियंत्रण अवश्य है। नियंत्रण का स्वरूप क्या हो ? यह अलग प्रश्न है, पर इस समस्या का हल हिंदू समाज में अभी भी विद्यमान है कि विवाह प्रक्रिया पर समाज का नियंत्रण होना चाहिए। इस भारतीय परंपरा की ओर विश्व के विचारशील वर्ग का ध्यान गया है और यह सोचा जा रहा है कि विवाह पर सामाजिक नियंत्रण का अनुकरण समस्त संसार में किया जाना चाहिए।

बीमा कंपनियाँ इस बात की पूरी पूछताछ करती हैं कि बीमा कराने वाले के पूर्वज किस आयु में मरे थे, क्योंकि अन्वेषण से यही पाया गया है कि पूर्वजों की आयु से मिलती-जुलती अवधि तक ही सामान्यतः उनकी पीढ़ियाँ भी जिया करती हैं। डॉ० रेमंड पर्ल ने बहुत शोधों के उपरांत इस बात पर जोर दिया है कि संतान का दीर्घजीवन यदि अभीष्ट हो तो उसका प्रयोग जनक-जननी को पहले अपने ऊपर से प्रारंभ करना चाहिए।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक जे० बी० हाल्डेन ने आशा व्यक्त की है कि अगले दो सौ वर्षों के भीतर योरोप और अमेरिका में भी हिंदुओं की तरह वर्ण व्यवस्था स्थापित होगी और विवाहों के संदर्भ में उसका विशेष रूप से ध्यान रखा जायगा।

मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य का प्रश्न बहुत कुछ सुसंतति निर्माण की प्रक्रिया पर निर्भर है। इसके विभिन्न पक्षों पर विचार करना पड़ेगा और आवश्यक आधार जुटाना पड़ेगा। उपयुक्त जोड़े ही विवाह बंधन में बँधें और उपयोगी उत्पादन करें। इस संदर्भ में विवाह पद्धति पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामाजिक नियंत्रण रहना चाहिए। यौन विनोद के लिए विवाह की छूट और अयोग्य उत्पादन की स्वतंत्रता को अवरुद्ध करने के लिए भी कुछ तो करना ही पड़ेगा।

❑ ❑

गर्भस्थ शिशु का इच्छानुरूप निर्माण

महाभारत में एक कथा आती है कि "एक बार कुपित होकर अश्वत्थामा ने उत्तरा के गर्भस्थ शिशु (परीक्षित) पर आग्नेयास्त्र प्रयोग किया। परीक्षित माँ के उदर में ही असह्य पीड़ा से जलने लगा। माँ ने भी उसे जाना। उन्होंने संपूर्ण समर्पण भाव से परमात्मा का स्मरण किया, तब उस बच्चे की रक्षा हो पाई।"

गर्भस्थ शिशु को कोई अस्त्र तब तक नहीं छेद सकता जब तक माँ का शरीर न छिदे। दरअसल आग्नेयास्त्र मंत्र शक्ति थी, जो संकल्प-शक्ति के द्वारा चलाई गई थी। बाहरी व्यक्ति द्वारा दूर से संकल्प प्रहार से यदि गर्भस्थ बच्चा जल और मर सकता है, और फिर परमेश्वर के प्रति अटल विश्वास और रक्षा की भावना से उस बच्चे को बचाया जा सकता है तो उसके शरीर और मनोभूमि में भी इच्छानुवर्ती परिवर्तन लाया जा सकता है।

सती मदालसा के बारे में कहा जाता है कि—"वह अपने बच्चे के गुण, कर्म और स्वभाव की पूर्व घोषणा कर देती थी, फिर उसी प्रकार निरंतर चिंतन, क्रियाकलाप, रहन-सहन, आहार-विहार और व्यवहार बर्ताव अपनाती थी, जिससे बच्चा उसी मनोभूमि में ढल जाता था, जिसमें वह चाहती थी।" इतिहास प्रसिद्ध घटना है कि उनके पहले सभी बच्चे ज्ञानी, संत और ब्रह्मनिष्ठ होते गये। पति की प्रार्थना पर उन्होंने अंतिम गर्भस्थ बच्चे को राजनेता के अनुरूप ढाला। उसी ने पिता का राज्य-सिंहासन संभाला और कुशल राजनीतिज्ञ हुआ।

आयुर्वेद के विशेष ग्रंथ सुश्रुत संहिता में भी आया है—**"पूर्वं पश्येत् ऋतुस्नाता यादृशं नर मंगना। तादृशं जनयेत्पुत्रं भर्तारं दर्शये ततः।"** अर्थात्—ऋतु स्नान के पश्चात् स्त्री जिस प्रथम पुरुष को देखती है, बच्चे का रूप-रंग और मुखाकृति उसी जैसी होती है, इसलिए वह सर्वप्रथम अपने पति का ही दर्शन करे।

यह सभी तथ्य भावना विज्ञान से संबंधित हैं, इसलिए प्रत्यक्ष न दिखाई देने पर उनकी सत्यता में कोई संदेह नहीं है। यह बात अब पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिक, डॉक्टर और दूसरे प्रबुद्ध व्यक्ति भी मानने लगे हैं। डॉ० फाउलर ने इस संबंध में काफी खोज की है। गर्भावस्था में भी गर्भिणी के हाव-भाव का बच्चे के शरीर और मन पर कैसा प्रभाव पड़ता है ? इस संबंध में उनके कई प्रमाण हैं।

यह सभी तथ्य सुसंतति के निर्माण हेतु ध्यान में रखा जाना चाहिए। सुसंतति के संबंध में सामान्यतया इतना ही समझा जाता है कि यदि माता-पिता स्वस्थ सुंदर हों तो उनकी संतान वैसी ही उत्पन्न होगी। यदि खान-पान अच्छा मिले, सुविधा-शिक्षा की समुचित व्यवस्था हो तो बच्चे विकसित बनेंगे। यह तथ्य एक अंश तक ही सीमित है। वस्तुस्थिति कुछ और ही है।

रज-वीर्य के बहुत ही छोटे—खुली आँखों से न दीख पड़ने जितने, नन्हें कण अपने भीतर ऐसी रहस्यमय परंपरायें जोड़े रहते हैं, जिनका संतान के शरीर और मन पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता है। यह परंपरागत प्रभाव कितनी ही पीढ़ियों बाद भी उभर सकता है। माता की कितनी ही पीढ़ियों पहले की कोई शारीरिक एवं मानसिक स्थिति संतान में उभर सकती है, उसी प्रकार पिता के पूर्वजों में रही कोई विशेषता भी संतान में प्रकट हो सकती है। यह ऐसी विलक्षण भी हो सकती है, जिनका माता-पिता की तात्कालिक शारीरिक, मानसिक स्थिति से कोई सीधा संबंध न हो।

माता-पिता की शारीरिक-मानसिक स्थिति से भिन्न एवं विपरीत प्रकार के बालकों के जन्मने का कारण ढूँढ़ते हुए जीव विज्ञानी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रज एवं शुक्र कीटों के भीतर रहने वाले जीवाणुओं की परंपरागत संचित संपदा अवसर पाकर फलित प्रकटित होती हैं और उसी से ऐसी विभिन्नतायें सामने आती रहती हैं। अतएव संतान को सुयोग्य सुविकसित देखना हो

तो माता-पिता की शारीरिक-मानसिक स्थिति को पर्याप्त न मानकर वंश परंपरा की विशेषता पर ध्यान देना होगा।

शरीर के जिन विभिन्न उपभागों द्वारा मनुष्य के विभिन्न अंग-प्रत्यंग बनते हैं। इस प्रक्रिया को अनुशासन में रखने के लिए शरीर में कुछ रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। इन्हें 'ऐंजाइम' कहते हैं। इन ऐंजाइमों में वे संभावनायें व्यक्त रहती हैं, जिनके ऊपर शरीर और मन में समयानुसार अनेकों भली-बुरी विशेषतायें उभरती रहती हैं।

प्रजनन के लिए काम आने वाला कोष केंद्र दो अर्ध-घटकों में विभाजित होता है। नारी वर्ग के कोष 'अंड' और पुरुष वर्ग के कोष 'शुक्राणु' कहलाते हैं। इन दोनों का मिलन ही मनुष्य के जीवन आरंभ का श्रीगणेश है।

जीव कोष में ४६ 'क्रोमोसोम' होते हैं। इन्हें तितर-बितर करके पृथक्-पृथक् पहचाना जा सकता है। इनमें ४४ तो नर-नारी में एक जैसे होते हैं। इनका कार्य शरीर निर्माण भर होता है। शेष दो नर-मादा अलग-अलग होते हैं, इन्हें सैक्स क्रोमोसोम कहते हैं। इन्हें वैज्ञानिकों की भाषा में 'एक्स' और 'याई' कहते हैं। नर में एक 'एक्स' और एक 'याई' होती है, पर मादा में दोनों 'एक्स' होते हैं। बालक-बालिका का जन्म होना पूर्णतया नर की स्थिति पर निर्भर है। उसमें यदि 'क्ष' की प्रधानता होगी तो लड़की जन्मेगी। किंतु यदि 'य' का अस्तित्व है तो लड़का उत्पन्न होगा। इसमें मादा का कोई हाथ नहीं, क्योंकि उसमें तो सदा 'क्ष' कोष ही रहता है। कन्याओं की अधिकता में आज जो नारी को दोष दिया जाता है; वह सर्वथा गलत है। यह नर पक्ष ही है जिसमें यदि 'क्ष' कणों की प्रमुखता है तो कन्यायें होती रहेंगी। हाँ, माता-पिता में से किसी के अणु प्रबल होंगे तो आकृति-प्रकृति में उसकी प्रधानता लिये हुए बालक जन्मेगा।

वर्णसंकर पद्धति को कुछ समय पूर्व अच्छा माना जाता था। भिन्न स्तर के रक्तों के सम्मिश्रण की वकालत इसलिये की जाती

थी कि उसका दृश्य परिणाम अच्छा निकलता है। एक जाति का मिश्रण दूसरी से किया जाय तो शारीरिक परिणाम अच्छा निकलता है। घोड़ी और गधे के सम्मिश्रण से खच्चर उत्पन्न होता है, वह घोड़े की तुलना में हलका भले ही पड़े पर गधे से तो निश्चित रूप से मजबूत होता है। इसके संकरत्व से गधा वर्ग को लाभ मिलता है। उसकी उन्नति का पथ प्रशस्त होता है। वृक्ष-वनस्पतियों में भी यह प्रयोग किये गये हैं और फसलें उगाने में इसकी सफलता देखी गई है। इसलिये पिछले दिनों पूरे उत्साह के साथ वर्णसंकर प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया जाता रहा है।

सन् १८६५ में आस्ट्रिया की एक वैज्ञानिक मंडली ने पादरी मेंडले के नेतृत्व में मटर की विभिन्न जातियों की वर्णसंकर नसलें पैदा करके उनमें अनोखी विशेषतायें पैदा कीं। उन्होंने सिद्ध किया कि पीढ़ियों से चली आ रही परंपरा में कुछ मूल तत्त्व सन्निहित रहते हैं और कारणवश उन्हीं के दबने-उभरने से विविध विशेषता-संपन्न नसलें प्रकाश में आती हैं। गुण सूत्रों की ओर इस शोध में महत्त्वपूर्ण संकेत था। इस शोध के अनुसार वे इतना अनुभव संपादन कर सके कि वे मिश्रित जाति के पौधों में बदले हुए रंग, आकार, प्रकार, स्वाद, फूल आदि में संभावित परिवर्तन की पूर्व घोषणा कर देता और वह अनुमान प्रायः सही ही निकलता। मेंडले द्वारा स्थापित वे एक शताब्दी से भी अधिक पुराने सिद्धांत अभी भी उस क्षेत्र में प्रामाणिक माने जाते हैं।

किंतु यह उत्साह बहुत आगे तक न बढ़ सका। तात्कालिक थोड़ा दृश्यमान लाभ भर ही वर्णसंकरत्व का होता है, अंततः उसके दुष्परिणाम ही निकलते हैं। गधी और घोड़े से उत्पन्न 'खच्चर' नपुंसक होते हैं, उनकी पीढ़ियाँ आगे नहीं चलतीं। गधी और घोड़े के संयोग से उत्पन्न बच्चे तो माता-पिता दोनों की तुलना में गये- गुजरे होते हैं।

कलमी वृक्षों पर फल जल्दी, मीठे और बड़े तो जरूर आते हैं, पर वे उतने गुणकारी नहीं होते। फिर उन वृक्षों का विकास एवं

जीवन तो निश्चित रूप से अपेक्षाकृत स्वल्प होता है। इस प्रकार वह तात्कालिक लाभ अंततः घाटे का सौदा ही सिद्ध होता है। इस दृष्टि से जातिगत वर्णसंकरत्व की महिमा जो पिछले दिनों बहुत गाई जाती थी, अब धूमिल पड़ गई है और जहाँ तक सुसंतति का प्रश्न है, पूर्वजों की वंश परंपरा को ध्यान में रखने पर बहुत जोर दिया जाने लगा है।

आनुवंशिकी अन्वेषण में शोध कार्य की शृंखला में एक के बाद एक उपयोगी कड़ी जुड़ती ही चली गई है। हालैंड के वैज्ञानिक ह्यूगोद्रकी ने इस दिशा में बहुत कार्य किया। इस दिशा में मेडल फिशर, हाल्डेन, राइट, सटन, मार्गन, हर्मन मूलर, फ्रेडरिक मीशर, लीनस पालिग, फ्रांसिस क्रिक, वाटसन क्रिक, मार्शल निरेन वर्ग, राबर्ट हाले प्रभृति वैज्ञानिकों ने विश्व के विभिन्न देशों में शोध संस्थानों के अंतर्गत बहुत काम किया। अनेक विश्व विद्यालयों ने इस अन्वेषण को महत्त्व दिया, प्रयोगशालायें बनाईं तथा गुण सूत्रों के स्वरूपों को समझने तथा उनमें हेर-फेर करने की दिशा में आशाजनक प्रगति की। सुविकसित जातियाँ अपनी रक्त शुद्धि पर इसी दृष्टि से जोर देती रही हैं और उनमें अपने ही कुल वर्ग के अंतर्गत विवाह करने पर जोर दिया जाता रहा है। मिश्र के शासक कभी इस संबंध में बहुत कठोर थे। योरोप के राज्य परिवारों में इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाता रहा है।

हीमोफीलिया, एल्केप्टी नूरिया, एल्केप्टोनमीह सरीखे रोग अक्सर सगोत्र विवाहों के कारण होते हैं। जाति और उपजाति के कठोर बंधनों में बँधी जातियाँ क्रमशः दुर्बल होती चली जाती हैं। ऐसी दशा में उभयपक्षीय संकट उत्पन्न होता है। न वर्णसंकरत्व का समर्थन करते बनता है और न खंडन। फिर सुसंतति की समस्या—पीढ़ियों का सुधार संवर्धन कैसे किया जाय ?

इस संदर्भ में शोध निष्कर्ष यह निकले हैं कि रज-वीर्य के सूक्ष्म तत्त्व—गुण सूत्रों का परिष्कृतीकरण किया जाय, उन्हें नये स्तर पर सुधारा-सँभाला जाय, उनमें समाविष्ट विकृतियों का नये

आधार पर संशोधन किया जाय और इस परिशोधन के उपरांत सुविकसित पीढ़ियाँ आरंभ करने का श्रीगणेश किया जाय।

अस्तु यह मार्ग अधिक उपयुक्त है कि गुण सूत्रों को परिष्कृत करके सुसंतति की प्रक्रिया आगे चलाई जाय। दशरथ जी को पुत्रेष्टि यज्ञ द्वारा सुसंतति प्राप्त होने का उदाहरण इसी स्तर का है। भारत में उसके लिये पति-पत्नी के लिये तप साधना को आधार बताया जाता रहा है। कृष्ण और रुक्मिणी द्वारा बद्रीनाथ धाम में बारह वर्ष तक तप करने की तपश्चर्या इसी उद्देश्य से की गई थी और उन्हें मनोवांछित संतान प्रद्युम्न के रूप में प्राप्त हुई।

वंश परंपरा की महत्ता को अधिक प्रकाश में लाने वाले आनुवंशिकी विज्ञान ने क्रमिक अन्वेषणों में एक के बाद एक रहस्योद्‌घाटन किये हैं। जिनके आधार पर यह संभावना स्पष्ट हो सकी है कि अभीष्ट विशेषताओं से संपन्न मनुष्य का निर्माण संभव है। पैतृक दोष प्रवाह को हटाया भी जा सकता है और नर-नारी-युग्मों की केवल विशेषताएँ ही विकसित हो सकती हैं और विकृतियाँ क्रमशः समाप्त की जा सकती हैं। यह उपलब्धियाँ भावी मनुष्य विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। आशा की जानी चाहिए कि यदि यह प्रयास आगे बढ़ते रहे तो समुन्नत वर्ग का मनुष्य निर्माण कर सकना स्वप्न न रहकर एक तथ्य बन जायेगा।

जेनेटिक्स (आनुवंशिकी) के विशेषज्ञ पियरे लुई और लैमार्क इस बात से सहमत हैं कि इस विज्ञान की सहायता से मानवी पीढ़ियाँ क्रमशः अधिक सुविकसित बनाई जा सकेंगी और वह दिन आयेगा जब इस धरती पर 'सुपरमैन' (देव मानव) ही प्रधान रूप से पाये जायेंगे। पर दो नोबल पुरस्कार विजेता जैक मोनो और प्रो० निकोलाय दुबिनिन इस संबंध में बहुत संदिग्ध हैं। वे कहते हैं वंश परंपरागत अवरोध इतने अधिक और इतने जटिल हैं कि उन सबका सुधार परिष्कार कर सुपरमैन पीढ़ी का निर्माण तो अभी आकाश-कुसुम ही कहा जा सकता है।

कृत्रिम 'जीन' का निर्माण एक बड़ी दार्शनिक गुत्थी उत्पन्न करता है या सुलझाता है। अब तक जड़-चेतन का भेद इस आधार पर किया जाता रहा है कि जड़ वे हैं जिनमें चेतना नहीं। अब हर जड़ को चेतन मानना पड़ेगा या हर चेतन को जड़। शरीर और आत्मा के संदर्भ में आत्मवादी दर्शन यह परिभाषा करता रहा है कि शरीर जड़ है और आत्मा चेतन, पर अब कृत्रिम जीन का निर्माण यह सिद्ध करता है कि जड़ को विकसित करके चेतन की स्थिति में पहुँचाया जा सकता है। मूलतः हर जड़ में चेतना विद्यमान है। इस प्रतिपादन से वेदांत की अद्वैत मान्यता की पुष्टि भी होती है, जिसके अनुसार इस जगत् को ब्रह्ममय बताया गया है और किसी 'जड़' के अस्तित्व से ही इनकार किया गया है।

अध्यात्म विद्या इस प्रकार के सफल निष्कर्ष बहुत पहले ही निकाल चुकी है कि तप साधना से पति-पत्नी के शरीर में विद्यमान गुणसूत्र परिष्कृत किये जा सकते हैं। पीढ़ियों से चली आ रही विकृतियों का निराकरण किया जा सकता है और साधना पूँजी से सुसंपन्न व्यक्ति यदि ब्रह्मचर्य पालन की तरह ही सुसंतति उत्पादन का प्रयोजन सामने रखे तो निस्संदेह ऋषि परंपरा की पीढ़ियों का सृजन हो सकता है और आनुवंशिकी विज्ञान जिस महामानव के आदि पूर्वज को विनिर्मित करने में संलग्न है, वह प्रयोजन पूरा किया जा सकता है।

भावनाओं का भावी संतति पर प्रभाव

अध्यात्म विद्या मूलतः भावनाओं के परिष्कारपूर्वक आत्मा को परमात्मा से, जीव को ब्रह्म से जोड़ने का कार्य करती है। भावनाओं का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर अनिवार्य रूप से पड़ता है, यह तो अब विज्ञान भी मानने लगा है। आरंभ में, जिन डॉ० फाउलर का उल्लेख किया गया है, उन्होंने इस दिशा में काफी वैज्ञानिक अनुसंधान किया है। एक प्रत्यक्षवादी घटना का वर्णन करते हुए फाउलर लिखते हैं—"एक स्त्री अपने बच्चे को नींद लाने वाली

गोली देकर किसी आवश्यक कार्य से बाहर चली गई। लौटने पर वह बच्चा मरा पाया। स्त्री को इससे बहुत दु:ख हुआ और वह शोक-मग्न रहने लगी। उसी अवस्था में उसने दूसरी बार गर्भ धारण किया। पहले बच्चे के प्रति उसका शोक ज्यों का त्यों बना रहा, इसलिए दूसरा लड़का रोगी हुआ। दूसरे वर्ष ही उसकी मस्तिष्क रोग से मृत्यु हो गई। अब वह और दु:खी रहने लगी। इस अवस्था में तीसरा पुत्र हुआ, वह हठी, सुस्त और कमजोर हुआ। दाँत निकलते समय उसकी भी मृत्यु हो गई। चौथा पुत्र भी ऐसे ही गया। किंतु पांचवीं बार उसकी परिस्थितियों में सुखद परिवर्तन आये, जिससे उस स्त्री की मानसिक प्रसन्नता बढ़ी। वह पहले की तरह हँसने-खेलने लगी। इस बार जो बच्चा हुआ वह पूर्ण स्वस्थ, निरोग और कुशाग्र बुद्धि का हुआ।"

डॉ० फाउलर का मत है कि क्रोध, आश्चर्य, घृणा, अहंकार, गंभीरता आदि के अवसर पर माता की नासिका, मुख और आकृति में जैसे परिवर्तन उठाव-गिराव होते हैं वैसे ही बच्चे की नाक, मुँह, माथे आदि अवयवों की शक्ल भी बनती है। गर्भाधान के बाद स्त्री प्रसन्न नहीं रहती, शोक या चिंताग्रस्त रहती है, तो बालक के मस्तिष्क में पानी की मात्रा बढ़ जाती है। यदि ४ वर्ष के बच्चे के सिर का व्यास बीस इंच से अधिक हो तो मानना चाहिए कि वह जल-संचय का शिकार हुआ है, उसकी माँ गर्भावस्था में दु:खी रही है।

भय, विक्षेप, अशुभ चिंतन, उत्तेजना से जिस तरह अंग में भद्दापन, बेडौल और खराब मुखाकृति बनती है, उसी तरह शुभ-संकल्प और प्रसन्नतापूर्ण विचारों से बच्चा स्वस्थ, सुंदर और चरित्रवान् बनता है। इसीलिए कहा जाता है—"गर्भावस्था में माँ को सत्य भाषण, उत्साह, प्रेम, दया, सुशीलता, सौजन्यता, धर्माचरण और ईश भक्ति का अनुगमन करना चाहिए। यह बच्चे होनहार और प्रतापी होते हैं, जबकि क्रोध, ईर्ष्या, भय, उद्विग्नता आदि

अधम वृत्तियों के बच्चे भी अधम, उत्पाती और स्वेच्छाचारी होते हैं। गलत खान-पान भी उसमें सम्मिलित है।

इसके अतिरिक्त जो महत्त्वपूर्ण बातें गर्भस्थ शिशु को प्रभावित करती हैं, उनमें से वातावरण मुख्य है। ध्रुव ऋषि-आश्रम में जन्मे थे। उनकी माँ सुनीति बड़ी नेक स्वभाव और ईश्वर भक्त थीं। ध्रुव के महान् तेजस्वी होने में वातावरण भी मुख्य सहायक था, जबकि उत्तानपाद के दूसरे बेटे में वैसी तेजस्विता न उभर सकी।

एक पाश्चात्य डॉ० ने वातावरण के प्रभाव का अध्ययन इस प्रकार किया—"एक बार एक कमरे का फर्श और दीवार सबको नील पोतकर नीला कर दिया। उस कमरे में श्वेत रंग के खरगोश का एक जोड़ा रखा गया। कुछ समय बाद खरगोश के दो बच्चे हुए, दोनों के बालों में नीले रंग की झलक थी। इससे पता चलता है कि बच्चे के मस्तिष्क में ही नहीं, वातावरण का सूक्ष्म प्रभाव स्थूल अंगों पर भी पड़ता है। गर्भवती का निवास ऐसे स्थान पर होना चाहिए—जहाँ चारुता हो, मोहकता और आकर्षण हो। हरे बगीचों, केले, फलों आदि से घिरे स्थान, देवस्थान और विशेष रूप से सजे-सजाये, साफ-सुथरा स्थान गर्भस्थ बच्चों पर सुंदर प्रभाव डालते हैं।

स्पेन के किसी अंग्रेज परिवार में एक बार एक स्त्री गर्भवती हुई। गर्भवती जिस कमरे में रहती थी, उसमें अन्य चित्रों के साथ एक इथोपियन जाति के बहादुर का चित्र लगा हुआ था। वह चित्र उस स्त्री को अति प्रिय था। कमरे में वह उस चित्र को बहुत भावनापूर्वक देखा करती थी। दूसरे काम करते समय भी उसे उस चित्र का स्मरण बना रहता था। अंत में जब उसको बालक जन्मा तो उसके माता-पिता अंग्रेज होते हुए भी लड़के की आकृति और वर्ण इथोपियनों जैसा ही था। उस चित्र की मुखाकृति से बिल्कुल मिलता-जुलता उसी के अनुरूप था। घरों में भगवान् के, महापुरुषों

के चित्र लगाये भी इसीलिए जाते हैं कि उनकी आकृतियों से निकलने वाले सूक्ष्म भावना-प्रवाह का लाभ मिलता रहे।

वातावरण के साथ-साथ गर्भिणी के साथ व्यवहार, बर्ताव और बातचीत भी बहुत सौम्य, शिष्ट और उदार होनी चाहिए। क्रोध, मारपीट, धमकाना, डाँटना, दबाकर रखना आदि कुटिलताओं का बच्चे पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कई बार इस प्रकार के आचरण बहुत ही दुःखदायी और स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। एक बार एक व्यक्ति ने समुद्री-यात्रा के दौरान किसी बात से अप्रसन्न होकर, अपनी गर्भवती पत्नी को जोर का धक्का मारा। गिरते-गिरते जहाज की जंजीर हाथ में पड़ गई। उससे वह गिरने से संभल गई, किंतु वह व्यक्ति बड़ा क्रूर निकला। उसने छुरे का वार किया, जिससे उस स्त्री की जंजीर पकड़े हुए हाथ की तीन उंगलियाँ कट गई, वह स्त्री समुद्र में चली गई।

जहाज के चले जाने पर कुछ मल्लाहों ने उसकी रक्षा की। बाद में उस स्त्री को जो संतान हुई, यह देखकर सब आश्चर्यचकित रह गये कि उसकी तीन उंगलियाँ ही नहीं थी और वह बालक मानसिक दृष्टि से अपूर्ण, क्रोधी तथा शंकाशील स्वभाव का था।

धमाका पैदा करने वाला ऐसा कोई व्यवहार गर्भवती से नहीं करना चाहिए, जिससे मस्तिष्क में तीव्र आघात लगे। इससे बच्चे के शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

बच्चों के मानसिक निर्माण में माता-पिता की घनिष्ठता, प्रगाढ़ प्रेम, परस्पर विश्वास का सबसे सुंदर प्रभाव पड़ता है। सच बात तो यह है कि माता-पिता का संकल्प बच्चे को उसी प्रकार पकाता है, जिस प्रकार मादा कछुआ पानी में रहकर रेत में रखे अपने अंडों को पकाती है। दिव्य गुणों का बच्चे में आविर्भाव ही प्रेमपूर्ण भावनाओं से होता है, इसलिए गर्भावस्था में स्त्री-पुरुष को अधिकांश समय साथ-साथ बिताना चाहिए। पवित्र आचरण और

प्रगाढ़ मैत्री रखनी चाहिए, ऐसे बच्चे शरीर से ही नहीं, मिजाज से भी पूर्ण स्वस्थ होते हैं।

इस उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट होगी। एक अंग्रेज ने किसी ब्राजील की लड़की से विवाह किया। लड़की का रंग साँवला था, पर उसमें मोहकता अधिक थी। पति-पत्नी में घनिष्ठ प्रेम था। पर उन्हें कोई संतान नहीं हुई।

कुछ समय पश्चात् वह स्त्री मर गई। पति को बड़ा दुःख हुआ। कुछ दिन बाद उसने दूसरा विवाह अंग्रेज स्त्री से किया। वह गौरवर्ण की थी, पर इस अंग्रेज को अपनी पूर्व पत्नी की याद बनी रहती थी, इसलिए वह अपनी नई पत्नी को भी उसी भाव से देखा करता था। इस स्त्री से एक कन्या उत्पन्न हुई, जो ब्राजीलियन लड़की की तरह साँवली ही नहीं, मुखाकृति से भी मिलती-जुलती थी। यह गर्भावस्था में पिता के मस्तिष्क में जमा हुआ पत्नी-प्रेम का संस्कार ही था, जिसके कारण बालिका ने उसका रंग और आकार ग्रहण किया।

इन समस्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि गर्भस्थ शिशुओं का इच्छानुवर्ती निर्माण संभव है। अपने रहन-सहन, स्वभाव और संकल्पों को स्वस्थ और सुंदर बनाकर भावी बच्चों में भी स्वास्थ्य, सौंदर्य, सद्‌गुण, तेजस्विता और मनस्विता का विकास किया जा सकता है। यह बात माता-पिता दोनों को मालूम होनी चाहिए।

विज्ञान द्वारा इस तथ्य का पता तो लगा ही लिया गया है कि शरीर अरबों कोषाणुओं से बना है, पर उसका आरंभ एक कोष से होता है, इन टुकड़ों में एक माता का भाग होता है—एक पिता का। यह आरंभिक जीवन कोष—जैव रसायनों का एक सम्मिश्रण मात्र है। इसके चारों ओर एक खोल चढ़ा रहता है। इस खोल के भीतर जीव द्रव (प्रोटोप्लाज्म) के दो भाग हैं। बीच का गहरा भाग कोष केंद्र (न्यूक्लियस) कहलाता है। उसके चारों ओर एक हल्का द्रव (साइटोप्लाज्म) होता है।

गुण सूत्रों की विकृतियाँ और रुग्णताऐं ही अक्सर कष्ट साध्य और असाध्य रोगों के रूप में उभरती हैं। मामूली बुखार, खाँसी, आहार-विहार की गड़बड़ी से हो सकते हैं और उन्हें मामूली दवादारू से अच्छा किया जा सकता है। पर जब बीमारी गहराई में घुसी बैठी होती है—उसकी जड़ कोशिकाओं के अंतरंग में प्रविष्ट हो जाती है तो साधारण रासायनिक पदार्थों की पहुँच वहाँ तक नहीं हो पाती और शुद्ध उत्पादन की तरह रुग्ण उत्पादन भी भीतर ही भीतर चलता रहता है। बहुत बार तो यह कोशिकागत गुण-सूत्रों में बैठी हुई रुग्णता विकृत आकृति एवं प्रकृति बनाने लगती है।

स्वास्थ्य संरक्षण से लेकर दीर्घ जीवन तक के सूत्र इन्हीं कोशिकाओं के उस कक्ष में भरे पड़े हैं, जिन्हें 'जीन' कहते हैं। इनकी आश्चर्यजनक क्षमता का एक छोटा-सा प्रमाण तब प्रत्यक्ष देखा जाता है, जब वे विकास का लक्ष्य सामने रखकर अपने विस्तार में प्रवृत्त होते हैं।

आश्चर्य तो देखिये, भ्रूण कलल आरंभ करते समय पहली युग्म कोशिका का भार एक औंस के दस लाखवें भाग के बराबर होता है, पर २८५ दिनों में वह भार लगभग सात पौंड हो जाता है। यों युवा शरीर में ७०० खरब कोशिकाऐं पाई जाती हैं, नवजात शिशु में भी वे खरबों की संख्या क्षेत्र में प्रवेश कर चुकी होती हैं। एक से अनेक और लघु से विराट् बनने का यह कैसा अद्‌भुत उपक्रम है ?

कोशिकाओं के प्रमुख तीन भाग होते हैं—(१) केंद्रक (२) जीव-द्रव (३) कोशिका भित्ति। कोशिका के भीतर के पदार्थ का बाहर आना या बाहर वाले का भीतर जाना इस भित्ति में होकर ही होता है। यह भित्ति अनुपयुक्त पदार्थों को भीतर जाने में अवरोध का काम करती है। जीव द्रव जिसे वैज्ञानिकों की भाषा में साइटोप्लाज्म कहते हैं, कोशिका के बढ़ने, बेकार पदार्थ को बाहर निकालने एवं साँस लेने का काम करती है। कोशिका द्रव के मध्य

में एक घना, गाढ़ा पदार्थ होता है; जिसे कोशिका नाभिक अथवा केंद्रक कहते हैं। यह पूरी कोशिका का नियंत्रण एवं निर्देशन भी करता है। जीवन के समस्त रहस्य इस नाभिक में ही छिपे हैं। इसी के निर्देश पर विभिन्न कोशिकाऐं अपने-अपने अंगों के विभिन्न क्रियाकलापों में संलग्न रहती हैं। आमतौर से सभी जीवधारियों में यही क्रम चलता है। अमीबा और बैक्टीरिया जैसे निम्न श्रेणी के जीव ही इसके अपवाद हैं। उनमें विखंडन से ही नये जीव का निर्माण आरंभ हो जाता है। नाभिक के दो भाग हुए कि दो जीवों का अस्तित्व तैयार। उनका जन्म, जनन, परिवर्तन और मृत्यु का सिलसिला ऐसे ही चल पड़ता है। साधारणतया दो जनन कोशिकाओं का परस्पर मिलन भी किसी जीव जाति की पीढ़ियाँ बनाने और बढ़ाने का आधार रहता है।

इन कोषों के जीन्स को विकसित एवं परिष्कृत किया जा सकता है। यह प्रयोजन मानव शारीरिक उधेड़ बुन से नहीं, वरन् मानसिक ऊर्जा का संवेग तीव्र करने से संपन्न हो सकता है। पशुओं और पेड़-पौधों में इस स्तर की उलट-पुलट भौतिक प्रयोगों से भी एक हद तक संभव हो गई है, पर मनुष्य की कायिक स्थिति में भी हेर-फेर किया गया है, पर प्रकृति की जिसमें स्वस्थता की मूलभूत क्षमता भी सम्मिलित है—प्रबल मनःशक्ति की ही अपेक्षा करती है। यदि मनोबल तीव्र हो तो संकल्प शक्ति एवं चित्त की एकाग्रता के आधार पर संपन्न किये जाने वाले ध्यानयोग जैसे उपायों से कोशिकाओं की अंतरंग स्थिति में हेर-फेर किया जा सकता है।

एक औसत कोशिका का आकार व्यास एक सेंटी मीटर का दो हजारवाँ भाग होता है। देखते-देखते इनमें से लाखों-करोड़ों मरती और जन्मती रहती है। माता और पिता से सिर्फ दो नन्हीं कोशिकाएँ सारे पैतृक गुणों का सार लेकर आपस में मिलती हैं और उसी मिलन के आधार पर एक नये प्राणी का सृजन होता है। ये दो वही कोशिकाएँ जैव इंजीनियरिंग सिद्धांत पर एक शानदार शरीर बनाने में जुट जाती हैं और सफलतापूर्वक अपना कार्य

भ्रूणावस्था में आरंभ करके प्रजनन स्थिति आने तक बहुत कुछ पूरा कर लेती हैं।

सभी मनुष्यों और मनुष्येतर अन्य प्राणियों में जीवन के उद्‌भव की यही पद्धति है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध प्रकृतिशास्त्री चार्ल्स डार्विन ने प्राणियों और वनस्पतियों के मूल अस्तित्व के संबंध में विशेष अध्ययन कर १९वीं शताब्दी के तृतीय और चतुर्थदशक में यह निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न जीवों की विभिन्न जातियों तथा उपजातियों में अद्‌भुत समानतायें हैं।

इंग्लैंड के प्रसिद्ध प्रकृतिशास्त्री डार्विन ने प्राणियों और वनस्पतियों के मूल अस्तित्व के संबंध में दो ग्रंथों में यह प्रतिपादन किया कि समस्त जीवधारी एक ही आदिजीव के विकसित और परिवर्तित रूप हैं। परिस्थितियों का सामना करने के लिए जीवों ने अपने आपमें आवश्यक परिवर्तन किये हैं। डार्विन का कथन यही है कि परिस्थितियों का दबाव और प्राणी की जीवित रहने की इच्छा—इन दोनों तत्त्वों का समन्वय ही जीवों की अगणित आकृतियों-प्रकृतियों के उद्‌भव का मूल कारण है।

जब समस्त जीवधारी एक ही आत्मसत्ता की शाखा-प्रशाखा हैं और उसके बीच एकता की सघन संभावनायें विद्यमान हैं, तो फिर उनका पुनः विभाजन संयोजन करके क्यों नहीं एक ऐसी नई जाति का सृजन किया जा सकता है, जो आज की परिस्थितियों के अनुकूल-उपयुक्त हो। वैज्ञानिक इस संभावना को स्वीकार करते हैं और इसके अभिनव उत्पादन की सूत्र शृंखलायें ढूँढ़ने में तत्परतापूर्वक संलग्न हैं। उनके मत से भावी पीढ़ियाँ शारीरिक और मानसिक दृष्टि से ऐसी उपयुक्तताओं से भरी-पूरी बनाई जा सकेंगी, जो संसार में शांति और प्रगति में सहायक सिद्ध हो सकें।

इस दृष्टि से भी अध्यात्म विद्या के आधार पर सुविकसित नयी पीढ़ी के निर्माण की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

❐ ❐

प्रायश्चित्त प्रक्रिया से भागिये मत

रसौली (एक प्रकार उभरी हुई गाँठ की बीमारी) की मरीज एक स्त्री एक बार श्रीमती जे० सी० ट्रस्ट के पास गई और अपने रोग की चिकित्सा के लिए कोई औषधि देने की प्रार्थना करने लगी। श्रीमती ट्रस्ट अमेरिका की विश्वविख्यात संत हैं, जिन्होंने धर्म और अध्यात्म को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न ही नहीं किया, अपितु अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों से सैकड़ों पीड़ित और पतित लोगों का भला भी किया है। उनके प्रवचन और आध्यात्मिक गवेषणायें सुनने के लिए बड़े-बड़े वैज्ञानिक तक पहुँचते थे।

ट्रस्ट ने उस महिला को बहुत ध्यान से देखा और कहने लगीं—आप नहीं समझ सकतीं, पर जिन्हें प्रकाश की गति और अवस्था का ज्ञान होता है, वे यदि कोई न भी बताये तो भी किसी के भी अंतरंग की बात जान लेते हैं। आपके शरीर में मुझे कुछ काले रंग के अणु दिखाई देते हैं, जो इस बात के प्रतीक हैं कि आपके जीवन में कहीं कोई त्रुटि, विकृति या ऐसी अनैतिक प्रवृत्तियाँ हैं, जो आप दूसरों से छिपाती रहती हैं। आप प्रायश्चित्त का साहस कर सकें तो हम विश्वास दिलाते हैं कि आपका यह छोटे से छोटा रोग तो क्या भविष्य में अवश्यंभावी कठिन रोगों का निवारण भी उससे हो सकता है।

स्त्री बोली—"माता जी ! मैं आपके पास चिकित्सा के लिए आई हूँ, उपदेश तो बहुतेरे पादरियों, संत और धार्मिक व्यक्तियों से सुन चुकी। औषधि दे सकती हैं तो दीजिए, अन्यथा हम यहाँ से जायें।"

उस महिला की तरह सैकड़ों लोगों के जीवन विकारग्रस्त होते हैं, मन में दूषित—काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि विकार उठते रहते हैं, उनसे प्रेरित जीवन से जो पाप संभव हैं उन्हें लोग एक सामान्य ढर्रे की तरह अपना लेते हैं। काम-वासना से पीड़ित

व्यक्ति किसी भी नारी को देखकर उत्तेजित हो उठता है, क्रोधी व्यक्ति हर किसी को दुश्मन की तरह देखता और वैसा ही कटु व्यवहार करता है, लोभी व्यक्ति ही चोरी से लेकर रिश्वत, छल, कपट और मिलावट तक करते हैं, भले ही उससे समाज का कितना ही अहित क्यों न हो ? जब उससे यह कहा जाता है कि पाप और विकारों का कर्मभोग भोगना पड़ेगा, यह पाप ही आधि-व्याधि, रोग-शोक और बीमारियों के रूप में फूटते हैं, इन्हें अभी सुधार लो, अभी प्रायश्चित्त कर पाप के बोझ से मन को हल्का कर लो। तब वह इन विचारों को दकियानूसी-पिछड़ापन कहता है और तर्क देता है कि विकास के लिए संघर्ष प्राकृतिक सत्य है। प्रकृति यही सब कर रही है, मनुष्य क्यों न करे ? वह कर्मफल के सिद्धांत को मानने को तैयार नहीं होता। विकारों को वह शारीरिक आवश्यकताएँ मानता है और उनकी किसी भी उपाय से पूर्ति—धर्म। इन मान्यताओं के कारण ही आज न केवल सामाजिक व्यवस्थायें विश्रृंखलित हुईं, वरन् लोगों के जीवन रोग-शोक से भरते चले जा रहे हैं। पाप और मनोविकार सचमुच रोग और भविष्य के लिए अंधकार उत्पन्न करते हैं। यह बात अब न केवल तर्क संगत रही, वरन् विज्ञान सम्मत भी हो गई है।

श्रीमती ट्रस्ट के समझाने से उस महिला पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने अपने जीवन के सारे दोष स्वीकार किए और बताया कि उसे क्रोध बहुत आता है इसी दुर्भाव के कारण वह अनेकों पाप कर चुकी है। उसने कई बार चोरी भी की है और झूठ-मूठ कहकर लोगों को लड़ाया भी। उसने अपने सारे ऐब स्वीकार कर लिए इसके बाद ट्रस्ट के कहने से उसने कुछ दिन तक उपवास किया, उससे उसकी गाँठ भी अच्छी हो गई और मन की अशांति भी दूर हो गई। श्रीमती ट्रस्ट ने इसी तरह एक नवजात शिशु के रोग उसकी माँ से प्रायश्चित्त कराकर ठीक किये। उन्होंने ऐसे सैकड़ों व्यक्तियों से निष्कासन तप कराकर, उन्हें शरीर और मन-

से शुद्ध बनाया, वह सब उपरोक्त वैज्ञानिक सत्य का ही प्रतिफल था।

एक बार इंगलैंड के डॉक्टरों ने एक प्रयोग किया। एक बंदर के एड्रिनल के "मेडुलरी भाग" में हल्की-सी विद्युत् करेंट प्रवाहित करके देखा कि उससे "एड्रिलीन" हारमोन के स्राव की मात्रा बहुत बढ़ गई। उस समय बंदर की मुख मुद्रा में भयानक क्रोध के लक्षण उभर आये। फिर उन्होंने कुछ तीव्र रसायनों द्वारा उस भाग को "शून्य" कर दिया और तब फिर विद्युत् करेंट प्रवाहित किया तब "एड्रिलीन" बहुत थोड़ा निकला। बंदर उस समय कुछ ज्यादा क्रोधित भी नहीं हुआ। इसके साथ एक ऐसे व्यक्ति का परीक्षण किया गया, जिसने किसी महिला के पर्स की चोरी कर ली थी। उस समय वह अत्यंत भयभीत था कि कहीं पुलिस पकड़ न ले और उसे पीटा न जाये। डॉक्टरों ने उसकी जाँच की तो पाया कि उसका सारा केंद्रीय नाड़ी संस्थान उत्तेजित है और उससे शरीर के पूरे यंत्र (मेटाबोलिजम) पर असर पड़ रहा है। ऐसे समय तीव्र असर वाली बीमारियाँ होने की संभावना डॉक्टरों ने भी स्वीकार कीं। चिंता व शोक की स्थिति में "थैलमस फोलिकल स्टेमुलेटिंग हारमोन रिलीजिंग फैक्टर" में कमी हो जाने आदि के उदाहरण से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि बुरी भावनायें मनुष्य शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव निश्चित रूप से डालती हैं। वही रोग के रूप में उत्पन्न होते हैं, इसलिए यदि रोग से स्थायी बचाव करना है तो अपने मनोमय संस्थान को शुद्ध रखना ही पड़ेगा। साथ ही साथ अब तक जो मलिनतायें मन में भर गई हैं, उन्हें प्रायश्चित्त द्वारा परिमार्जित करना ही होगा। जब तक मनुष्य इन्हें स्वीकार नहीं करता वह अंतर्दहन से बच नहीं सकता।

"हारमोन्स क्या है" और उसका मनुष्य शरीर से क्या संबंध है ? यह समझने से उक्त तथ्य की गहराई में प्रवेश किया जा सकता है। मनुष्य शरीर में दो प्रकार की ग्रंथियाँ (ग्लैंड्स) होती हैं। ग्रंथियाँ एक ऐसे कोशों (सेल्स) के समुदाय को कहते हैं, जो किसी

गाँठ की शक्ल में बदल जाते हैं और जिनसे तरल रासायनिक स्राव निकलता रहता है। इस स्राव को ही "हारमोन्स" कहते हैं। एक ग्रंथियाँ वह होती हैं, जिनका संबंध नलिकाओं द्वारा शरीर से होता है, दूसरी नलिकाविहीन (डक्टलेस ग्लैंड्स) वह होती हैं, जिनका संबंध नलिकाओं से नहीं होता, वे स्राव मस्तिष्क की गतिविधि के अनुसार निकालती और मनुष्य शरीर पर प्रभाव डालती हैं। यही सर्वाधिक महत्त्व की हैं। अभी वैज्ञानिक इनके बारे में पूर्णतया नहीं जान पाये। जब जानेंगे तब पूर्व जन्मों के संस्कार, पुनर्जन्म आदि के कितने ही आश्चर्यजनक तथ्य सामने आयेंगे—ऐसा अनुमान है। हम नहीं जानते—पर अब विज्ञान यह बताने लगा है कि मनुष्य की अच्छी-बुरी भावनाओं के द्वारा ही अच्छे या बुरे हारमोन्स शरीर में स्रवित होकर रासायनिक संतुलन या विकृति उत्पन्न करते हैं।

भारतीय दर्शन और जीवन पद्धति में स्थूलता को कम महत्त्व दिया गया और देव भाग को अधिक। यह यहाँ की सर्वोपरि विज्ञानवादिता थी। अब शरीर-विद्या विशारद भी इन मान्यताओं पर उतरने लगे हैं कि वस्तुतः शरीर का सारा संचालन अधिकांश इन देवशक्तियों, ग्रहों-उपग्रहों या सूक्ष्म आकाश भाग से ही होता है। "आकल्ट एनाटॉमी एंड दि बाइबिल" पुस्तक में डॉ० कोराहन हेलिन ने—कोलंबिया विश्वविद्यालय के डॉ० लुइस बर्मन के निबंध—व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली ग्रंथियाँ (ग्लैंड्स रेगुलेटिंग परसनैलिटी) के हवाले से बताया है कि मनुष्य के शरीर में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ हैं, जो देखने में छोटी होती हैं, पर उनका महत्त्व असाधारण है। पाचन क्रिया से लेकर मनोवेगों तक का सारा नियंत्रण इन ग्रंथियों से ही होता है। इन्हें वाहिनीहीन (डक्ट-लेस) ग्रंथियाँ (ग्लैंड्स) कहा जाता है। अंतःस्रावी हारमोन्स इन ग्रंथियों से ही स्रवित होकर शारीरिक उतार-चढ़ाव, घटना-बढ़ना, बुढ़ापा-मृत्यु आदि का कारण बनते हैं।

एनाटॉमी मेडिकल कॉलेज कर्नेल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ० चार्ल्स आर० स्टार्कयार्ड ने इन ग्रंथियों के आधार पर मनुष्य जीवन की एक नई धारणा प्रस्तुत की है, जो भारतीय आध्यात्मिक शोधों से शत-प्रतिशत मेल खाती है। डॉ० स्टार्कयार्ड लिखते हैं कि आंतरिक स्राव वाली ग्रंथियाँ एक महान् शासक के रूप में गर्भ धारण से लेकर मृत्यु तक स्त्रियों, पुरुषों तथा समस्त रीढ़ की हड्डी वाले जीवों तक का नियंत्रण करती हैं। "फिजियोलॉजी" की मान्यतायें भी अब "अंतराकाश" के अस्तित्व और उसके प्रचंड प्रभाव को स्वीकार करने लगी हैं। "ग्लैंड्स ऑफ डेस्टिनी" के लेखक डॉ० ईबो गैकी काब ने तो यहाँ तक मान लिया है कि अंतःस्रावी (इंडोक्राइन ग्लैंड्स) ग्रंथियों पर नियंत्रण रखने वाले लोगों ने ही इतिहास पर अधिकार रखा है और जमाने को कहाँ से कहाँ बदल दिया है। नैपोलियन बोनापार्ट का उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि यदि वाटरलू के युद्ध के समय नैपोलियन बोनापार्ट की "पिट्यूटरी ग्लैंड" (पीयूष ग्रंथि) में खराबी नहीं आ जाती तो वह हारता नहीं। जो नैपोलियन अत्यंत दूरदर्शी निर्णय भी तुरंत ले लेने की क्षमता रखता था, उसकी विवेक बुद्धि बुरी तरह लड़खड़ा गई। जिस समय वह एल्बा में निर्वासित था, उस समय लेगर्ड ग्रंथि लड़खड़ा गई। यह सारी बातें तब प्रकाश में आईं जब सेंट हेलेना में उसके शव की अंत्य परीक्षा (पोस्ट मार्टम) की गई। जब तक उसने इन ग्रंथियों पर नियंत्रण रखा, जब तक उसकी अंतःस्रावी ग्रंथियाँ सशक्त रहीं, नैपोलियन सारी दुनिया को जीतता रहा, पर जैसे ही वह इन शक्तियों से वंचित हुआ वह नष्ट ही हो गया।

योग साधनायें इन देव-शक्तियों के विकास का ही वैज्ञानिक उपक्रम हैं। आने वाले दिनों में जबकि अंतःस्रावी ग्रंथियों के पदार्थ (मैटर) की खोज होगी और उसकी तुलना ग्रहों के पदार्थ से की जायेगी तो लोग आश्चर्य करेंगे कि मनुष्य शरीर में आकाशतत्त्व

किस विलक्षणता के साथ उपस्थिति है और कितने आश्चर्यजनक ढंग से मनुष्य को अपनी इच्छा से बाँधे हुए हैं ?

"आकल्ट एनाटॉमी एंड दि बाइबिल" पुस्तक के वैज्ञानिक लेखक ने उस तरह का तुलनात्मक अध्ययन, जिस तरह "कुंडलिनी तंत्र" में भारतीय योगियों ने किया है वैसा तो नहीं किया, पर उसने माना है कि इन ग्रंथियों का संबंध निश्चित रूप से नक्षत्रों (स्टार्स) से है। उन्होंने इन्हें "आंतर्नक्षत्र" (इंटेरियर स्टार्स) लिखा है और बताया है कि सूर्य और प्रत्येक ग्रह पीनियल ग्लैंड से संबंध रखते हैं। इसे तृतीय नेत्र ग्रंथि भी कहा जाता है। उससे भ्रूमध्य में "आज्ञाचक्र" का ही स्पष्ट प्रमाण मिलता है। आज्ञा-चक्र जाग्रत् करने वाला "ॐ" ध्वनि सुन सकता है।

सब तरफ की दूरवर्ती घटनायें देख-सुन सकता है। यह सूर्य शक्ति का प्रभाव है। वरुण और चंद्र का संबंध 'पिट्यूटरी ग्रंथि' से है। चंद्रमा के उतार-चढ़ाव से मन पर उतार-चढ़ाव होता है, यह इन दोनों तत्त्वों की एकता का प्रमाण है। वृहस्पति उपवृक्क (एड्रिनल) पर, प्रजनन ग्रंथि (गोनाड्स) पर मंगल बुध का, गल ग्रंथि (थायराइड्स) से सूर्य का, पैराथायराइड्स (उपगल ग्रंथि) से संबंध है, इन ग्रहों के उतार-चढ़ाव इन ग्रंथियों को प्रभावित करते हैं।

सूक्ष्म अवयवों का विज्ञान

सामान्य शरीर विज्ञान के अनुसार यह जाना-माना जाता है कि देह के इंजन को चलाने के लिए हृदय, फुफ्फुस, आमाशय, आँतें, जिगर, गुर्दे, वृक्क, मस्तिष्क आदि अंगों का क्रियाकलाप ही प्रमुख उत्तरदायित्व वहन करता है। उसकी बनावट और क्रिया-पद्धति शब्दच्छेद आदि द्वारा समझी-समझाई जाती है और बीमार पड़ने पर इन्हीं में कहीं खराबी-कमजोरी तलाश की जाती है। रक्त की गतिशीलता एवं शुद्धता इन्हीं प्रमुख अंगों की स्थिति पर निर्भर रहती है। ज्वर, खाँसी, दस्त, व्रण, दर्द, सूजन,

शिथिलता, अशक्तता आदि रोगों के वाह्य लक्षण भीतरी अवयवों में विकार आने के फलस्वरूप ही दृष्टिगोचर होते हैं।

विज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भाँति शरीर विज्ञान के अंतरंग में जितनी गहराई के साथ प्रवेश किया जाता है, उतने ही अधिक महत्त्वपूर्ण रहस्य प्रकट होते चले जाते हैं। प्राचीन काल में पंच-तत्त्वों को सृष्टि का आदि कारण माना जाता था। पर नवीन शोधें परमाणु, प्रकाश, चुंबक, ईथर, गैस, ताप आदि तत्त्वों के कण-कंपनों को पदार्थ का मूल कारण सिद्ध करती हैं। स्थूल पंचतत्त्व तो इन्हीं सूक्ष्मतत्त्वों के मिश्रण मात्र हैं। उनका अब कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं माना जाता।

शरीर विज्ञान में अब हृदय, आमाशय आदि को यंत्र, इंजन आदि मानता है। उसके मूल संचालन में दूसरे तत्त्वों एवं सूक्ष्म अवयवों का हाथ बताया जाता है। इन्हीं पर हमारे स्वास्थ्य का बहुत कुछ आधार निर्भर रहता है।

सूक्ष्म अवयवों में 'हारमोन' अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी सक्रियता, निष्क्रियता का हमारी शारीरिक और मानसिक स्थिति पर भारी प्रभाव पड़ता है।

शरीर में दो प्रकार की ग्रंथियाँ हैं। एक प्रकार की ग्रंथियाँ पसीना आदि मलों के विसर्जन की प्रक्रिया संपन्न करती हैं। दूसरी प्रकार की एक रस विशेष का स्राव करती हैं, जो रक्त में मिलकर समस्त शरीर को प्रभावित करता है। यह रस विशेष ही हारमोन है।

शरीर की आकृति कैसी ही हो, उसकी प्रकृति के निर्माण में हारमोन रसों का भारी हस्तक्षेप रहता है। कई बार तो वे मनःस्थिति, स्वभाव, रुचि को भी आश्चर्यजनक रीति से प्रभावित करते हैं। स्वसंचालित नाड़ी संस्थान की गतिशीलता तक में इनकी स्थिति के कारण भारी हेर-फेर उत्पन्न होते हैं। इन हारमोन रसों को जीवन रस कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

हारमोन प्रवाहित करने वाली ग्रंथियाँ यों कितनी ही हैं, पर उनमें पाँच मुख्य हैं। यथा—

(१) थायराइड (घुल्लिका)—यह ग्रंथि गले की घंटी के पास स्थित है। इसका वजन आधी छटाँक से भी कम होता है। इससे निकलने वाले रस को थायरेक्सीन कहते हैं। इसमें ६५ प्रतिशत आयोडीन रहता है। इसके अतिरिक्त हाइड्रोजन, ऑक्सीजन और नाइट्रोजन आदि भी रहते हैं।

इसका विकास बचपन में ही रुक जाय तो शरीर और मन का पर्याप्त विकास नहीं होता, प्रौढ़ावस्था में विकास रुक जाने पर चुस्ती और स्फूर्ति रुक जाती है। शरीर की गिरावट होने लगती है। वृद्धावस्था में विकास रुक जाने पर मनुष्य का शरीर एकदम गिर जाता है और मृत्यु जल्दी ही आ जाती है। इस ग्रंथि का रस इंजेक्शन द्वारा देने पर इसका अभाव दूर हो जाता है।

इसी ग्रंथि पर मनुष्य की कार्यक्षमता निर्भर करती है। यदि यह ग्रंथि तेजी से काम करने लगे तो कार्यक्षमता में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इतना ही नहीं तेज मिजाज, क्रोध, चिड़चिड़ापन, जल्दबाजी, भागदौड़ की वृत्ति अधिक बढ़ जाती है। यदि यह थोड़ा अधिक कार्य करें तो मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उत्तम है। इससे गंभीरता, मस्ती, कार्यशीलता, प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(२) पिट्यूटरी—यह प्रमुख ग्रंथि है, जो अन्य सभी ग्रंथियों पर शासन करती है। यह अंगूर की शक्ल की मस्तिष्क के नीचे एक नली से लटकी रहती है। इसकी स्वस्थता पर ही अस्थिपंजर की वृद्धि, शरीर का विकास निर्भर करता है। इसकी विकृति से पीलापन, समय के पूर्व बुढ़ापा, अस्थिपंजर की कमजोरी आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(३) पीनियल—यह मस्तिष्क के पिछले भाग में स्थित होती है। इसकी सक्रियता पर अवस्था से पहले कामवासना की तीव्रता और असाधारण प्रतिभा का विकसित होना निर्भर करता है।

(४) **एड्रिनल्स**—गुर्दों के ऊपरी सिरों पर दो ग्रंथियाँ स्थित होती हैं। इनसे कार्टन नाम का रस निःसृत होता है। इस रस के नष्ट हो जाने पर मृत्यु हो जाती है। इन ग्रंथियों की बाह्य प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पुरुषत्व की वृद्धि होती है। आंतरिक क्षेत्र में भय, क्रोध, चिंता आदि का संबंध इसी ग्रंथि से होता है। इन ग्रंथियों पर प्रतिक्रिया होने से रक्तचाप बढ़ जाता है। स्नायुओं में तेजी आ जाती है। भय, क्रोध, उत्तेजना की अवस्था में सामर्थ्य से अधिक काम कर बैठना, ऊँचे से कूद जाना, घातक हमला कर देना, तेजी से दौड़ना इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होता है। एड्रीनलीन इंजेक्शन देने पर इसमें उत्तेजना पैदा हो जाती है।

(५) **गोनेड**—यह लिंग संबंधी प्रमुख ग्रंथि है। इसके ऊपर लिंग संबंधी विकास निर्भर करता है। यदि विपरीत लिंगी रस दिया जाय तो वैसी ही प्रतिक्रिया होने लगती है। वैज्ञानिकों ने परीक्षण के तौर पर मुर्गे की गोनेड ग्रंथि का रस एक मुर्गी के शरीर में छोड़ा। कुछ ही समय बाद मुर्गी ने अंडे देना बंद कर दिया और मुर्गे की तरह बाँग देना शुरू कर दिया। लिंग परिवर्तन के मूल कारण में इस ग्रंथि का परिवर्तन भी मुख्य होता है। जिन स्त्रियों में यह ग्रंथि अधिक विकसित होने लगती है, उनमें पुरुषत्व के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

इस तरह की शरीर में अनेकों ग्रंथियाँ होती हैं। किंतु प्रमुख ग्रंथियाँ ये ही हैं, जिनके आधार पर शरीर की स्थिति निर्भर करती है।

हारमोन स्रावों के संबंध में विशेष अनुसंधानकर्ता डॉ० क्रुक शेंक ने इन्हें जादुई रैंड कहा है और बताया है कि बाहर की शारीरिक बनावट या स्थिति कैसी ही क्यों न प्रतीत हो, उनकी वास्तविक स्थिति जाननी हो तो इन स्रावों के संतुलन और क्रिया-कलाप का परीक्षण करके ही यह जाना जा सकेगा कि मनुष्य का वास्तविक स्तर और व्यक्तित्व क्या है ? हारमोन न

केवल अंग-प्रत्यंगों की समर्थता-असमर्थता के आधार हेतु हैं, वरन् व्यक्तित्त्व के निर्माण में भी उनका गहरा हाथ है।

मनः शास्त्री एडलर ने काम प्रवृत्ति की शोध करते हुए बड़े विलक्षण तथ्य प्राप्त किए। बाहर से अत्यधिक सुंदर, आकर्षक और कमनीयता की मूर्ति देखते हुए भी कई महिलाओं को उन्होंने काम शक्ति से सर्वथा रहित पाया। न उनमें रमणी प्रवृत्ति थी न नारी सुलभ उमंग। स्रोलड़े जैसे दुर्बलकाय खिलाड़ी, ग्लामेविजउड जैसी बौनी नर्तकी की इन विशेषताओं के रहस्य का आधार उनके हारमोन रसों में सन्निहित पाया गया। कितने ही अपौष्टिक आहार मिलने पर भी स्थूल कार्य देखे जाते हैं और कितनों की मक्खन, मलाई का बाहुल्य रहने पर भी देह पतली ही बनी रहती है। कुछ लोग रोगों के दबाव को इतना सह लेते हैं कि जितने में सामान्यतः मृत्यु हो ही जानी चाहिए। इसके विपरीत कुछ भीतरी खोखलेपन के कारण जरा-सी अस्वस्थता में ही टें बोल जाते हैं। बौनापन अथवा लंबा होना इन हारमोन रसों पर निर्भर रहता है।

मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक स्थिति में जो आकाश-पाताल जैसा अंतर पाया जाता है, उसका कारण उनका आहार-विहार, संस्कार, वातावरण, शिक्षण, संकल्प भी हो सकता है, पर अनजाने और अनचाहे प्रवाह में मनुष्य को कहीं से कहीं बहा ले जाने और कुछ से कुछ बना देने का श्रेय इस जीवन की न उमंग में था और न क्षमता में। इसी प्रकार उन्होंने कितने ही युवकों को देखा, जिनकी शारीरिक स्थिति मर्दानगी और वैवाहिक जीवन की आवश्यकता प्रतिपादित करती थी, पर वे वस्तुतः नपुंसक थे। न उनके मन में उमंग थी न जननेंद्रिय में उत्तेजना। इसका कारण तलाश करने पर कामतत्त्व को प्रभावित करने वाले हारमोन रस का ही अभाव पाया गया। इसके विपरीत उन्हें ऐसे नर-नारी भी मिले, जो अल्प वयस्क एवं वयोवृद्ध होते हुए भी काम पीड़ित रहते थे। शरीर से रुग्ण रहने पर भी कितने ही व्यक्ति ऐसे पाये गये, जो अतिशय कामसेवन में प्रवृत्त थे। इसके बिना

उन्हें असह्य बेचैनी अनुभव होती थी। इस विचित्र असंतुलन का कारण उन्हें हारमोन ग्रंथियों के स्राव में अवांछनीय हेर-फेर होना ही प्रतीत हुआ।

वीथोवन जैसे बहरे प्रखर संगीतज्ञ, डीमास्थनीज जैसे हकलाने वाले धुरंधर वक्ता, डेनियल बोर्न जैसे मंद दृष्टि चित्रकार, विशेष रस स्राव की मात्रा पर ही निर्भर थे। नर से नारी और नारी से नर बनने के जो कितने ही उदाहरण सामने आये हैं, इन लिंग परिवर्तन की स्थिति हारमोन की गतिशीलता में मोड़ आ जाने के कारण ही बनी बताई गई है।

स्वसंचालित नाड़ी संस्थान की सक्रियता मनुष्य के नियंत्रण से बाहर बताई जाती है। अचेतन मस्तिष्क के क्रिया-कलापों को जीवन-कोषों के परंपरागत विकास क्रम से संचालित बताया जाता है। यह भी मानवी प्रयत्नों से अप्रभावित संस्थान समझा जाता है। हारमोन रसों के बारे में भी ऐसी ही मान्यता है कि उनकी न्यूनाधिकता को घटाया-बढ़ाया जाना कठिन है। प्राणिज हारमोन निकालकर उनके इंजेक्शनों द्वारा उस कमीवेशी को संतुलित करने का प्रयत्न किया जा रहा है, पर वह उधार का अनुदान क्षणिक लाभ देकर समाप्त हो जाता है। अपने निज के हारमोन स्राव उत्तेजित या शिथिल करने में स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने वाले उपचारों में अभी चिकित्सा विज्ञान को यत्किंचित ही सफलता मिली है। हारमोन स्राव इतने महत्त्वपूर्ण किंतु इतने अनियंत्रित होने के कारण मनुष्य के लिए अभी भी एक पहेली बने हुए हैं।

सूक्ष्म विज्ञान वहाँ से आरंभ होता है, जहाँ स्थूल की समाप्ति होती है। भौतिक प्रयत्न जहाँ तक काम दे सकें उसी को भौतिक क्षेत्र माना जाता है। इससे आगे की परिधि को समाप्त समझ लेना उचित नहीं। आधिभौतिक से आगे भी दो विशालकाय क्षेत्र पड़े हैं—आध्यात्मिक और आधिदैविक। इन क्षेत्रों में संव्याप्त विज्ञान—आधिभौतिक क्षेत्र में उपलब्ध सामर्थ्य एवं सफलता से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं।

हारमोन स्राव सर्वथा स्वेच्छाचारी है, उन पर मानव चेतना का कोई अधिकार नहीं, यह मान बैठना ठीक नहीं। औषधि विद्या और शल्य प्रक्रिया भी संभव है। वहाँ तक पहुँच नहीं, पर यह समझा जाना चाहिए कि शरीर के क्षेत्र में चल रही गतिविधियों पर शरीरगत आत्मा का कोई नियंत्रण-हस्तक्षेप नहीं। आत्मिक शक्ति बढ़ाकर हृदय जैसे यंत्र को रोक देना और फिर इच्छानुसार संचालित कर देना योग विद्या द्वारा संभव हो गया है। इसे वैज्ञानिक परीक्षणों में प्रमाणित किया जा चुका है। स्वसंचालित नाड़ी संस्थान को मंद, बंद या तीव्र करने में प्राचीन काल के योगाभ्यासी तो निष्णात थे ही, अब भी सिद्धांत प्रतिपादन की दृष्टि से उसे प्रमाणित किया जा चुका है। हर हारमोन रसों में ही क्या अनोखापन है, जो आत्मबल के प्रहार से उन्हें घटाया-बढ़ाया जाना संभव न हो सके।

शरीर पर सर्वतोभावेन नियंत्रण-शासन संचालन करने की क्षमता जब मनुष्य योगाभ्यास द्वारा प्राप्त कर लेगा, तब हारमोन रसों जैसे अद्‌भुत स्रावों का सदुपयोग करके व्यक्तित्व को इच्छानुसार ढालना, बदलना, सुधारना संभव हो जाएगा। योग और अध्यात्म-विद्या के माध्यम से व्यक्तित्व में इन्हीं बीजों का आरोपण किया जाता है। आत्म साधना का विज्ञान व्यक्तित्व के विकास में बाधा पहुँचाने वाले कारणों, कषाय-कल्मषों और पिछले जन्मों के विकारों को दूर कर व्यक्तित्व को विकास की दिशा में अग्रसर करता है। इसके लिए अपने पिछले कर्मों का दंड भुगतने और प्रायश्चित्त प्रक्रिया से गुजरने के लिए हर घड़ी-हर पल तैयार रहना चाहिए।

❑ ❑

सद्गुरु हमारे ही काय-कलेवर में

राजा बृहद्रथ को एक बार शरीर की अनित्यता का ज्ञान होने पर वैराग्य हो गया। आत्म-साक्षात्कार के लिए उनके अंतःकरण में व्याकुलता उत्पन्न हो उठी। पूछने पर गुरु ने समझाया, तात ! आत्म-साक्षात्कार के लिए तपश्चर्या आवश्यक है, पर तप का भी एक विज्ञान है और जो उसे जानता है, उसी के मार्ग-दर्शन व संरक्षण में किया हुआ तप ही सार्थक होता है। चाहे जब, चाहे जो क्रिया—तप नहीं कहलाती, वरन् एक क्रमबद्ध साधना पद्धति द्वारा आत्मा के ऊपर चढ़े हुए मलावरण को परिमार्जित करना पड़ता है। आप आत्मवेत्ता महामुनि शाकल्य के पास जायें, वे ही आपको आत्म-ज्ञान की दीक्षा देने में समर्थ हैं।

इक्ष्वाकुवंशी बृहद्रथ महामुनि शाकल्य के पास जाकर बोले—भगवन् ! "अथातो आत्म जिज्ञासा" मुझे आत्मा के दर्शनों की अभिलाषा है, सो आप मुझे आत्म-ज्ञान का उपदेश करें। महामुनि शाकल्य ने उसकी निष्ठा की परख करते हुए कहा—तात ! तलवार की धार पर नंगे पाँव चल लेना कठिन है, पर आत्म-दर्शन की साधनायें उससे भी कठिन हैं, तुम उन्हें पूरा नहीं कर सकोगे। चाहिए तो कोई शारीरिक सुख का वरदान माँग लो। मैं तुम्हें वृद्ध से युवा बना देने में भी समर्थ हूँ। सुखों की इच्छा त्यागकर कठिनाइयों भरा जीवन मत जियो ?

बृहद्रथ ने जो उत्तर दिया है उसका स्वर भिन्न है, पर भावार्थ वहीं है, जो अब वैज्ञानिक बताते हैं। उन्होंने कहा—

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणित श्लेष्माश्रु दूषितेविण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः।।

—मैत्रायण्युपनिषद् १।२

हे भगवन् ! यह शरीर हड्डी, चमड़ा, स्नायु, मांस, वीर्य, रक्त, आँसू, विष्ठा, मूत्र, वायु, पित्त, कफ आदि से युक्त दुर्गंध से भरा

निस्सार है, फिर मैं विषय भोग लेकर क्या करूँगा ? मुझे तो आप शाश्वत एवं सनातन आत्मा के ही दर्शन कराने का मार्ग-दर्शन करें।

महाराज की निष्ठा अडिग है, यह जान लेने पर महामुनि शाकल्य ने उन्हें योग दीक्षा दी, जिससे बृहद्रथ का मनुष्य शरीर भी धन्य हो गया।

उपर्युक्त आख्यान पढ़कर क्या सचमुच ही यह मान लिया जाये कि मनुष्य शरीर बहुत दुर्गंधित और घृणित है। स्थूल दृष्टि से तो उसका मूल्य और महत्त्व दरअसल ऊपर कहे जैसा ही है, पर यदि ज्ञान की दृष्टि से उसके आध्यात्मिक मूल्य और महत्त्व का चिंतन किया जाये तो पता चलेगा कि ईश्वर ने यह एक ऐसी जटिल किंतु सर्वसमर्थ मशीन बनाई है कि उसका मूल्य रुपयों में कभी मापा नहीं जा सकता। टूटे-फूटे छप्पर और कटी-फटी दीवारों वाले घर साधारण लोगों के होते हैं। असाधारण और संपन्न लोगों के मकान साज, सज्जा और कलाकारिता ही नहीं, सीमेंट, पत्थर, चूने और उसमें पायी जाने वाली सुख-सुविधाओं की सामग्री से परिपूर्ण होते हैं। मनुष्य शरीर जैसे यंत्र पर अन्य दृष्टि से विचार करते हैं, तो पता चलता है कि संपन्न व्यक्ति के भव्य-भवन के समान मनुष्य को भी यह परमात्मा की असाधारण देन और वरदान है, यदि उसका सच्चा उपयोग किया जा सके तो मनुष्य इसी शरीर से देवता और भगवान् हो सकता है।

अन्यथा चौगुना मूल्य बढ़ जाने पर भी रासायनिक दृष्टि से मनुष्य के शरीर का मूल्य अब तक लगभग २७० रुपये हो पाया है। नार्थ वेस्टर्न मेडिकल स्कूल विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ० डोनाल्ड फारेमैन ने १८ सितंबर १९६६ को अपने एक बयान में बताया कि जब वस्तुओं की महँगाई बढ़ी नहीं थी, तब मनुष्य शरीर में पाये जाने वाले सभी तत्त्वों का कुल मूल्य केवल ७ रुपये ३५ पैसे था, पर अब चूँकि महँगाई बढ़ गई है—इसलिए उसमें पाये जाने वाले तत्त्वों अर्थात् शरीर का रासायनिक मूल्य २७० रु० हो गया है।

जिन रासायनिक तत्त्वों से शरीर बना है, उनमें से सबसे बड़ा भाग ऑक्सीजन का है। ऑक्सीजन शरीर में ६५ प्रतिशत होता है। यह जल और वायु से मिलता है। शरमन्स के "मिस्ट्री ऑफ मैटिरियल" पुस्तक में शेष तत्त्वों की जो तालिका दी हैं, उसमें बताया है कि ऑक्सीजन के अतिरिक्त शरीर में १८ प्रतिशत कार्बन, १० प्रतिशत हाइड्रोजन, ३ प्रतिशत नाइट्रोजन, २ प्रतिशत कैल्शियम, १ प्रतिशत फास्फोरस, .३५ प्रतिशत पोटैशियम, .२५ प्रतिशत सल्फर, .१५ प्रतिशत सोडियम, .१५ प्रतिशत क्लोरीन, ०.५० प्रतिशत मैगनीशियम, ०.०४ प्रतिशत लोहा और शेष .०४६ प्रतिशत भाग में आयोडीन, फ्लोरीन तथा सिलिकम पाया जाता है।

हैलीपटन और मैगडोवल की फिजियोलॉजी पुस्तक में वल्कमैन व बिसचॉफ ने उपरोक्त रासायनिक मात्रा को और भी छोटे से घेरे में सीमित कर दिया है। उनके अनुसार शरीर में ६४ प्रतिशत जल, १६ प्रतिशत प्रोटीन, १४ प्रतिशत चर्बी, ५ प्रतिशत लवण और १ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट होता है। इन सबका मूल्य टेरेलीन और टेरीकोट जैसे कपड़ों के एक "शूट" का मूल्य जैसा ही लगभग ३०० रुपये तक आँका जा सकता है, मनुष्य शरीर का मूल्य पहने जाने वाले कपड़ों से भी बदतर होना, यह बताता है कि स्थूल और रासायनिक दृष्टि से शरीर का सचमुच कोई भी मूल्य और महत्त्व नहीं है। भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने विषयासक्त लोगों को बार-बार चेतावनी दी है कि, हे मनुष्यो ! इस स्थूल शरीर का कोई मूल्य नहीं है, इसी के सुखों में आसक्त मत रहो। इसमें संव्याप्त आत्म-चेतना की भी शोध और उपलब्धि करो, तभी दुःखों से निवृत्ति हो सकती है।

कोई मनुष्य साधारण खाने-पीने और इंद्रिय सुखों में ही फँसे रहकर रोग शोक का जीवन जीने तक ही इस शरीर का मूल्य समझे तो उसके इस आराम को क्या कहा जा सकता है ? अन्यथा शरीर का एक-एक पुर्जा बताता है कि मनुष्य सामान्य और साधारण नहीं, ज्ञान, बुद्धि, विवेक और अनुभूति की दृष्टि से साकार ब्रह्म ही है। आज औषधि, भाषा, लिपि, इंजीनियरिंग आदि

के क्षेत्र में कई तरह के संगणक (कंप्यूटर) बने हैं, जो एक क्षण में ही यहाँ से लेकर चंद्रमा, बुध, शुक्र, हर्शल, प्लूटो नेप्च्यून तक की दिशा, दूरी, गति आदि का .०००००००००१ तक सही और प्रामाणिक उत्तर दे देते हैं, पर मनुष्य जैसी भूत और भविष्य की बातों का ज्ञान रखने वाली सामर्थ्य का संगणक आज तक नहीं बन पाया। भारतवर्ष की शकुंतला और वरमॉंट बात, कजेरा कोलबर्न उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। कोलबर्न जब आठ साल का था तभी उसने लंदन में २६८, ३३६ और १२५ के क्यूबरूट—गुणनफल १ सेकंड से भी कम समय में बना दिये। एक मूवी कैमरा १/१५६ से० में १ फोटो ले सकता है। इतनी तीव्रगति का ही चमत्कार है कि फोटो भी परदे में नाचने-कूदने और सूक्ष्म से सूक्ष्म हाव-भाव प्रदर्शित करने लगती है। मूवी कैमरे में एक लेन्स होता है, जिसके छेद में से ही दृश्य जा सकता है। लेन्स के पीछे लगी "फोटो सेन्सिटिव प्लेट" में पड़ने से रासायनिक क्रिया द्वारा वस्तु का प्रतिबिंब झलक जाता है। यदि मनुष्य की आयु ५० वर्ष मानी जाये और यह माना जाये कि वह मूवी कैमरा की गति से ही कुल दिन के बारह घंटे देखता है तो भी उसके मस्तिष्क में $२\frac{१}{२}$ सेंटीमीटर लंबी रील की ५/२ × १५६ × ६० × ६० × १२ × ३६५ $\frac{१}{३}$ × ५० = ३०७७५६८००००० सेंटीमीटर लंबी फिल्म होनी ही चाहिए। उसका यथार्थ मूल्य तो निकाल सकना मनुष्य के लिए कठिन ही नहीं, असंभव सा लगता है।

ऋण शक्ति केवल मनुष्य शरीर के लिए ही संभव है। यदि इसका भी मशीनी उपयोग हो सका होता तो

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् !

"पुण्यपरमार्थ के लिए शरीर ही सबसे पहला साधन है"—ऐसा मानकर शरीर का सदुपयोग करना चाहिए।

योगियों के हिसाब से शरीर में ७२००० नाड़ियाँ हैं। डॉक्टरी हिसाब से इनकी लंबाई ५ हजार फीट है। संदेश लाने (अफरेन्ट नर्व्स), संदेश ले जाने (इफरेंट नर्व्स) को दोहरी व्यवस्था के लिए शरीर में १० हजार फुट तो केवल नसों का जाल बिछा है। एक फीट बिजली का साधारण तार लगभग १ रु० में आता है। आगे हिसाब से देखें तो केवल बिजली के तार बिछाने का मूल्य दस हजार होता है। अभी शरीर जैसा जल-संयंत्र (वाटर वर्क्स), शॉक आब्जर्वर, शरीर में ही औषधि निर्माण, फिल्ट्रेशन, मोटर पावर्स की क्रेन जैसी मांसपेशियों की शक्ति, वातानुकूलित और प्रकाशदायक (एयर कंडीशन और वेंटीलेटेड) त्वचा का मूल्य शरीर में काम करने वाले इंजीनियर—डॉक्टर और मजदूर उन सबका वेतन—यह कुल जोड़ मिलाया जाये तो हर शरीर अरबों अरब रुपयों का बैठेगा। पर उस सबका मूल्य और महत्त्व तभी है जब मनुष्य उन क्षमताओं का यथार्थ उपयोग कर पाये। परमात्मा से इतना मूल्य और महत्त्व का शरीर पाकर भी यदि कोई मनुष्य मानवता को लजाने वाले घृणित कर्म या स्वार्थ, लोभ, मोह और इंद्रियासक्ति में डूबे हुए कर्म करके अपनी आत्मा को पतित करता है तो उसका मूल्य लगभग २७० रुपये का ही मानना पड़ेगा। यह मनुष्य के अपने वश की बात है कि वह दो सौ सत्तर रुपये वाला बेकार का जीवन जिये या अकूत रुपये मूल्य वाला ऋषि-मनीषियों और महापुरुषों जैसा भव्य जीवन जीकर ईश्वरीय देन को सार्थक करे।

क्या मनुष्य खिलौना मात्र है ?

मनुष्य के वर्तमान स्वरूप, स्तर और स्थिति के लिए पूर्वजों की पीढ़ी को जिम्मेदार ठहराने वाले आनुवंशिकी विज्ञान द्वारा पिछले दिनों यह सिद्ध किया जाता रहा है कि प्राणी अपने पूर्वजों की प्रतिकृति मात्र होते हैं, माता-पिता के डिंब-कीट और शुक्र कीट मिल-जुलकर भ्रूण-कलल में परिणत होते हैं और शरीर बनना आरंभ हो जाता है। उस शरीर में जो मन:चेतना रहती है, उसका

स्तर भी पूर्वजों की मनःस्थिति की भाँति ही उत्तराधिकार में मिलता है। शरीर की संरचना और मानसिक बनावट के लिए बहुत हद तक पूर्वजों के उन जीवाणुओं को ही जिम्मेदार ठहराया गया है, जो परंपरा के रूप में वंशधरों में उतरते चले जाते हैं।

इस प्रतिपादन से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति अपने आप में कुछ बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। पूर्वजों के ढाँचे में ढला हुआ एक खिलौना मात्र है। यदि संतान को सुयोग्य सुविकसित बनाना हो तो वह कार्य पीढ़ियों पहले आरंभ किया जाना चाहिए। अन्यथा साँचे में ढले हुए इस खिलौने में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन न हो सकेगा।

आनुवंशिकी का यह प्रतिपादन जहाँ तक मानव-प्राणी का संबंध है, बहुत ही अपूर्ण और अवास्तविक है। पशु-पक्षियों में एक हद तक यह बात सही भी हो सकती है, पर मनुष्य के लिए यह कहना अनुचित है कि वह पूर्वजों के साँचे में ढला हुआ एक उपकरण मात्र है। यह मानवी इच्छाशक्ति, विवेक-बुद्धि, स्वतंत्र-चेतना और आत्म-निर्भरता को झुठलाना है। समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और मनोविज्ञानवेत्ता वातावरण एवं परिस्थितियों को उत्थान-पतन का कारण बताते रहे हैं। आत्मवेत्ताओं ने एक स्वर से सदा यही कहा है—मनुष्य की अंतःचेतना स्वनिर्मित है। वह वंश परंपरा से नहीं, संचित संस्कारों और प्रस्तुत प्रयत्नों के आधार पर विकसित होती है। इच्छाशक्ति और संकल्पशक्ति के आधार पर अपने मानसिक ढाँचे में कोई चाहे तो आमूलचूल परिवर्तन कर सकता है।

आनुवंशिकी की मान्यताएँ एक हद तक ही सही ठहराई जा सकती हैं। चमड़ी का रंग, चेहरा, आकृति, अवयव आदि पूर्वजों की बनावट के अनुरूप हो सकते हैं। पर गुण, कर्म, स्वभाव भी पूर्वजों जैसे ही हों—यह आवश्यक नहीं। यदि ऐसा हो रहा होता तो किसी कुल में सभी अच्छे और किसी कुल में सभी बुरे उत्पन्न होते। रुग्णता, स्वस्थता, बुद्धिमत्ता, मूर्खता, सज्जनता, दुष्टता, कुशलता,

अस्तव्यस्तता भी परंपरागत होती तो प्रगतिशील वर्ग के परिवार के सभी सदस्य सुविकसित होते और पिछड़े लोगों का स्तर सदा के लिए गया-गुजरा ही बना रहता, तब उत्थान-पतन के लिए किए गये प्रयत्नों की भी कुछ सार्थकता न होती। वातावरण का भी कोई प्रभाव न पड़ता, पर ऐसी स्थिति है नहीं। पूर्वजों की स्थिति से सर्वथा भिन्न स्तर की संतानों के अगणित उदाहरण पग-पग पर सर्वत्र बिखरे हुए देखे जा सकते हैं। इससे मनुष्य की स्वतंत्र चेतना और इच्छाशक्ति की प्रबलता का लक्ष्य ही स्पष्ट रूप से सामने आता है।

मद्यप मनुष्यों की संतान क्या जन्मजात रूप से उस लत से ग्रसित होती है ? इस खोज-बीन में पाया गया कि ऐसी कोई बात नहीं है, वरन् उल्टा यह हुआ कि बच्चों ने बाप को मद्यपान के कारण अपनी बर्बादी करते देखा तो वे उसके विरुद्ध हो गये और उन्होंने न केवल मद्यपान से अपने को अछूता रखा, वरन् दूसरों को भी उसे अपनाने से रोका।

मनुष्यों के गुण-सूत्रों के हेर-फेर से जो परिणाम सामने आये हैं, उनसे स्पष्ट है कि बिगाड़ने में अधिक और बनाने में कम सफलता मिली है। विकलांग और पैतृक रोगों से ग्रसित संतान उत्पन्न करने में आशाजनक सफलता मिली है, क्योंकि विषाक्त मारकता से भरे रसायन सदा अपना त्वरित परिणाम दिखाते हैं। यह गति विकासोन्मुख प्रयत्नों की नहीं होती। नीलाथोथा खाने से उल्टी तुरंत हो सकती है, पर पाचन-शक्ति सुधार देने के प्रयोग उतने सफल नहीं होते। देव से असुर की शक्ति को अधिक मानने का यही आधार है। मनुष्यों में मनचाही संतान उत्पन्न करने का प्रयोग सिर्फ इतनी मात्रा में कुछ अधिक सफल हुआ है कि रंग-रूप और गठन की दृष्टि से जनक-जननी का सादृश्य दृष्टिगोचर हो सके। काया की आंतरिक दृढ़ता, बौद्धिक तीक्ष्णता एवं भावनात्मक उत्कृष्टता उत्पन्न करने में वैज्ञानिक प्रयोगों का उत्साहवर्धक परिणाम नहीं निकला है।

•

गुण-सूत्रों को बदलने में इन दिनों विद्युत्-ऊर्जा एवं रासायनिक हेर-फेर के साधन जुटाये जा रहे हैं, पर वे यह भूल जाते हैं कि यह बाहरी थोप-थाप स्थिर न रह सकेगी—उससे क्षणिक चमत्कार भले ही देखा जा सके। शरीर के प्रत्येक अवयव को मस्तिष्क प्रभावित करता और मस्तिष्क का सूत्र-संचालन इच्छाशक्ति के हाथ में रहता है। अस्तु, शारीरिक, मानसिक समस्त परिवर्तनों का तात्त्विक आधार इस इच्छाशक्ति को ही मानना पड़ेगा। गुण-सूत्रों पर भी इसी ऊर्जा का प्रभाव पड़ता है और इसी माध्यम से वह परिवर्तन किये जा सकते हैं, जो मनचाही पीढ़ियाँ उत्पन्न करने के लिए वैज्ञानिकों को अभीष्ट हैं।

अभीष्ट स्तर की पीढ़ियाँ क्या रासायनिक हेर-फेर अथवा विद्युतीय प्रयोग उपकरणों द्वारा प्रयोगशालाओं में विनिर्मित हो सकती हैं ? यह एक जटिल प्रश्न है। यदि ऐसा हो सका तो यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य इच्छाशक्ति का धनी नहीं, वरन् रासायनिक पदार्थों की परावलंबी प्रतिक्रिया मात्र है। यदि यह सिद्ध हो सका तो इसे मनोबल और आत्मबल की गरिमा समाप्त कर देने वाली दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति ही कहा जाएगा, पर ऐसा हो सकना संभव दिखाई नहीं पड़ता—भले ही उसके लिए एड़ी-चोटी के प्रयत्न कितने ही किये जाते रहें ?

शरीर के विभिन्न अंगों पर दबाव डाले जाते रहे हैं, पर प्राणी की मूल इच्छा ने उस दबाव को आवश्यक नहीं समझा तो उस तरह के परिवर्तन नहीं हो सके। चीन में शताब्दियों तक स्त्रियों के पैर छोटे होना—सौंदर्य का चिह्न माना गया, इसके लिए उन्हें कड़े जूते पहनाये जाते थे। उससे पैर छोटे बनाने में सफलता मिली। पर वंश-परंपरा की दृष्टि से वैसा कुछ भी नहीं हुआ। हर नई लड़की के पैर पूरे अनुपात से ही होते थे।

प्राणियों के क्रमिक-विकास में इच्छाशक्ति का ही प्रधान स्थान रहा है। मनुष्य तो मनोबल का धनी है, उसकी बात जाने भी दें और अन्य प्राणधारियों पर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होगा कि

उनकी वंश-परंपरा में बहुमुखी परिवर्तन होता रहा है। इसका कारण सामयिक परिस्थितियों का चेतना पर पड़ने वाला दबाव ही प्रधान कारण रहा है। असुविधाओं को हटाने और सुविधाएँ बढ़ाने की आंतरिक आकांक्षा ने प्राणियों की शारीरिक स्थिति और आकृति में ही नहीं, प्रकृति में भी भारी हेर-फेर प्रस्तुत किया है। जीव-विज्ञानी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं।

यदि पूर्वजों के गुण लेकर ही संतानें उत्पन्न होने वाली बात को सही माना जाए तो जीवों की आकृति-प्रकृति में परिवर्तन कैसे संभव हुआ ? उस स्थिति में तो पीढ़ियों का स्तर एक ही प्रकार का चलता रहना चाहिए था।

लेमार्क ने प्राणियों का स्तर बदलने में वातावरण को, परिस्थितियों को श्रेय दिया है। वे कहते हैं—इच्छाशक्ति इन्हीं दबावों के कारण उभरती-उतरती है। सुविधा-संपन्न लोगों के परिस्थितियों के ऊपर किसी प्रकार का दबाव नहीं रहता। अतएव उनका शरीर ही नहीं, बुद्धिकौशल भी ठप्प पड़ता जाता है। अमीरी के वैभव में पले हुए लोग अक्सर छुई-मुई बने रह जाते हैं और उनका चरखा बखेर देने के लिए एक छोटा-सा आघात ही पर्याप्त होता है।

लेमार्क ने नये किस्म के अनेक जीवधारियों की उत्पत्ति का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि बाहर से मौलिक जीव दीखने पर भी वस्तुतः किसी ऐसे पूर्व प्राणी के ही वंशज होते हैं, जिन्हें परिस्थितियों के दबाव से अपने परंपरागत ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन करना पड़ा।

जीवों के विकास-इतिहास के पन्ने-पन्ने पर यह प्रमाण भरे पड़े हैं कि प्राणियों के अंग-प्रत्यंग निष्क्रियता के आधार पर कुंठित हुए हैं और सक्रियता ने उन्हें विकसित किया है। प्रवृत्ति, प्रयोजन और चेष्टाओं का मूल इच्छाशक्ति ही है। असल में यह इच्छाशक्ति ही प्राणिसत्ता में विकास, अवसाद उत्पन्न करती है। रासायनिक पदार्थों और गुण-सूत्रों की वंश-परंपरा विज्ञान में कायिक क्षमता को एक

अंश तक प्रभावित करने वाला आधार भर माना जाना चाहिए। आधुनिक विज्ञानवेत्ता मौलिक-भूल यह कर रहे हैं कि मानवी-सत्ता को उन्होंने रासायनिक प्रतिक्रिया मात्र समझा है और उसका विकास करने के लिए जनक-जननी बनके जनन-रसों को अत्यधिक महत्त्व दे रहे हैं। इस एकांगी आधार को लेकर मनचाही आकृति-प्रकृति की पीढ़ियाँ वे कदाचित् ही पैदा कर सकें।

वैज्ञानिक बीजमन ने चूहों और चुहियों की लगातार बीस पीढ़ियों तक पूँछें काटी और देखा कि क्या इसके फलस्वरूप बिना पूँछ वाले चूहे पैदा किये जा सकते हैं ? उन्हें अपने प्रयोग में सर्वथा असफल होना पड़ा। बिना पूँछ के माँ-बाप भी पूँछ वाले बच्चे ही जनते चले गये। इससे यह निष्कर्ष निकला कि मात्र शारीरिक हेर-फेर से वंशानुक्रम नहीं बदला जा सकता। इसके लिए प्राणी की अपनी रुचि एवं इच्छा का समावेश होना नितांत आवश्यक हैं।

हर्बर्ट स्पेंसर ने अपनी खोजों में ऐसे कितने ही प्राणियों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जिन्होंने शरीर के किसी अवयव को निष्क्रिय रखा तो वह क्षीण होता चला गया और लुप्त भी हो गया। इसके विपरीत ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं, जिनमें 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है" वाले सिद्धांत को सही सिद्ध करते हुए अपने शरीर में कई तरह के पुर्जे विकसित किये और पुरानों को आश्चर्यजनक स्तर तक परिष्कृत किया।

समुद्र-तल की गहराई में रहने वाली मछलियों को प्रकाश से वंचित रहना पड़ता है। अतएव उनके आँखों का चिह्न रहते हुए भी उनमें रोशनी नहीं होती है। आँख वाले अंधों में उनकी गणना की जा सकती है। अंधेरी गुफाओं में जन्मने और पलने वाले थलचरों का भी यही हाल होता है। उनकी आँखें ऐसी होती हैं, जो अंधेरे मे ही कुछ काम कर सकें। प्रकाश में तो वे बेतरह चौंधिया जाती हैं और निकम्मी साबित होती है।

समर्थ का चुनाव मात्र शारीरिक बलिष्ठता पर निर्भर नहीं है, वरन् सच पूछा जाय तो उनकी मनःस्थिति की ही परख इस कसौटी पर होती है। पशु वर्ग और सरीसृप वर्ग के विशालकाय प्राणी आदिम-काल में थे। उनकी शरीरगत क्षमता अद्भुत थी, फिर भी वे मंद-बुद्धि, अदूरदर्शिता, आलस जैसी कमियों के कारण दुर्बल संज्ञा वाले ही सिद्ध हुए और अपना अस्तित्व खो बैठे। जबकि उसी समय के छोटी काया वाले प्राणी अपने मनोबल के कारण न केवल अपनी सत्ता सँभालते रहे, वरन् क्रमशः विकासोन्मुख भी होते चले गये।

जीवों के विकास क्रम का एक महत्त्वपूर्ण आधार यह है कि उन्हें परिस्थितियों से जूझना पड़ा—अवरोध के सामने टिके रहने के लिए अपने शरीर में तथा स्वभाव में अंतर करना पड़ा। यह परिवर्तन किसी रासायनिक हेर-फेर के कारण नहीं, विशुद्ध रूप से इच्छाशक्ति की प्रवाह-धारा बदल जाने से ही संभव हुआ है। जीवन-संग्राम में जूझने की पुरुषार्थ-परायणता का उपहार ही अल्प-प्राण जीवों को महाप्राण स्तर का बन सकने के रूप में मिला है। जिन्होंने विपत्ति से लड़ने की हिम्मत छोड़ दी और हताश होकर पैर पसार बैठे, उन्हें प्रकृति के कूड़े-कचरे की तरह बुहार कर घूरे पर पटक दिया। किसान और माली भी तो अपने खेत-बाग में अनुपयोगी खरपतवार की ऐसी ही उखाड़-पछाड़ करते रहते हैं। विकास की उपलब्धि पूर्णतया जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के फलस्वरूप ही मिलती है और इस संघर्षशीलता का पूरा आधार साहसी एवं पुरुषार्थी मनोभूमि के साथ जुड़ता रहता है।

आनुवंशिकी-विज्ञान की अन्यान्य शोधें कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, पर यह प्रतिपादन स्वीकार नहीं हो सकता कि प्राणियों का विशेषतया मनुष्यों का स्तर पूर्वजों के परंपरागत गुण-सूत्रों पर निर्भर है। इच्छाशक्ति की प्रचंड समर्थता के आधार पर शारीरिक, मानसिक और सामाजिक परिवर्तनों की संभावना को मान्यता देने

के उपरांत ही वंशगत विशेषताओं की चर्चा की जाय—यही उचित है।

नये मनुष्य का निर्माण

समय जिस तेजी से आगे बढ़ रहा है और परिस्थितियाँ जिस द्रुतगति से बदल रही हैं, उसे देखते हुए यह प्रश्न उभरकर सबसे आगे आ सकता है कि विकट भविष्य से जूझने वाला—भयंकर समस्याओं को सुलझा सकने वाला—मनुष्य उत्पन्न होना चाहिए। वैज्ञानिक इसका समाधान प्रजनन तत्त्व में भारी हेर-फेर करके उसे ढूँढ़ रहे हैं, जिन रासायनिक पदार्थों से जीवन बनता है उनकी मात्रा एवं क्रम बदल देने से—वर्तमान जीवकोषों की शल्य-क्रिया कर देने से ऐसा संभव हो सकता है। वे सोचते हैं, इन सुधरे हुए जीवकोषों को माता के गर्भ की अपेक्षा किसी स्वतंत्र परखनली में पकाया जाय, ताकि माता के रक्त-मांस से होने वाला भ्रूण पोषण कहीं उस कष्ट साध्य सुधार प्रक्रिया को बेकार न कर दे।

डॉ० रोस्टांड इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सुविकसित स्तर के मनुष्यों की हू-बहू वैसी ही 'ब्लू प्रिंट' कापियाँ बनाकर तैयार की जा सकेंगी। तब गाँधी और जवाहरलाल के न रहने से किसी क्षति की आशंका न रहेगी, क्योंकि उनके जीवन काल में ही अथवा मरने के बाद हू-बहू वैसे ही व्यक्ति सैकड़ों-हजारों की संख्या में प्रयोगशालाएँ उत्पन्न करके रख दिया करेंगी। इन डॉ० रोस्टांड ने टिश्यू कल्चर अर्थात् कोशाओं की खेती की अगले दिनों सामान्य बागवानी की तरह प्रयुक्त होने की भविष्यवाणी की है। कार्नेल विश्वविद्यालय के डॉ० फ्रेड्रिक सी० स्टीवर्ड द्वारा गाजर की एक कोशिका की पूरी गाजर में विकसित करने में सफलता प्राप्त करने के बाद अब वैज्ञानिक मनुष्य के बारे में भी यह सोचने लगे कि रज-वीर्य को अनावश्यक महत्त्व देने की जरूरत नहीं है। हर कोशिका में इतनी संभावना विद्यमान है कि वह अपने आपको एक स्वतंत्र मनुष्य के रूप में विकसित कर सके। रतिक्रिया का विकल्प

प्रयोगशालाएँ बन सकती हैं और प्रजनन के लिए माता-पिता का नगण्य सा सहयोग पाकर अपना उत्पादन जारी रख सकती हैं।

इटली के डॉ० डैनियल पैन्नुचि ने आलोनो की अपनी प्रयोगशाला में कृत्रिम मनुष्य भ्रूण उत्पन्न किये थे। उन्होंने एक पारदर्शी गर्भाशय बनाया था। उसमें एक रजकोश और एक शुक्रकोश का संयोग कराया तथा वे रसायन भर दिए, जिनमें भ्रूण पलता है। भ्रूण स्थापित हुआ और उसी तरह बढ़ने लगा जैसा कि माता के पेट में पलता है। पहला भ्रूण २६ दिन और दूसरा भ्रूण ५६ दिन तक उन्होंने पाला। इस उपलब्धि ने संसार में तहलका मचा दिया और यह संभावना स्पष्ट कर दी कि मनुष्यों का कृषि कर्म हो सकना एक सुनिश्चित तथ्य है। डॉ० पैन्नुचि से पहले भी यह संभावना बहुत कुछ प्रशस्त हो चुकी थी। डॉ० शैटल्स, डॉ० जानराक ने इस प्रयोग परीक्षण की सफल शुरुआत बहुत पहले ही आरंभ कर दी थी।

विचारक मालकम मगरिज का कथन है कि सृष्टि के आरंभ से लेकर अब तक प्रकृति के जितने रहस्य जानने में मनुष्य को सफलता मिली थी, उसकी तुलना में कहीं अधिक ब्रह्मांड का रहस्योद्घाटन इस शताब्दी में हुआ है। यह क्रम आगे और भी तीव्र गति से चलेगा। इन उपलब्धियों में एक सबसे बड़ी कड़ी जुड़ेगी—अभीष्ट स्तर के मनुष्यों के उत्पादन की। अगले दिनों शरीर की दृष्टि से असह्य समझी जाने वाली परिस्थितियों में रहने वाले मनुष्य उत्पन्न किये जा सकेंगे और विद्वान्, दार्शनिक, कलाकार, योद्धा, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, व्यापारी, श्रमिक आदि वर्ग न्यूनाधिक योग्यता के आवश्यकतानुसार उत्पन्न किये जा सकेंगे। तब मनुष्य सर्वशक्तिमान् न सही—असीम शक्तिसंपन्न अवश्य ही कहा जा सकेगा।

भारतवंशी अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ० हरगोविंद खुराना ने वंश तत्त्वों के रहस्यों का उद्घाटन करके नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया है। राइबो न्यूक्लिक एसिड (आर० एन० ए०) में जीवनोत्पादन की

क्षमता है, यह बहुत पहले जान लिया गया था। डी० ऑक्सी राइबोन्यूक्लिक एसिड (डी० एन० ए०) का जीवन संचार में कितना हाथ है ? यह विश्लेषण अब बहुत आगे बढ़ गये हैं। ए० जी० टी० और सी० प्रोटीनों के सूक्ष्म कण किस प्रकार जीवनतत्त्व को प्रभावित करते हैं ? यह जीवविज्ञान के छात्रों को विदित हो चुका है और न्यूक्लियोटाइड की चार रसायनों की भूमिका भली प्रकार जानी जा चुकी है। सन् १९६५ से इस विज्ञान ने क्रांतिकारी उपलब्धियाँ हस्तगत की हैं।

विस्कासिन विश्वविद्यालय के विज्ञानियों ने घोषणा की कि जीवन के वंशानुगत घटक—वंश तत्त्व—'जीन'—का समग्र रासायनिक संश्लेषण करने में वे सफल हो गये हैं। वंश तत्त्व का उत्पादन, अभिवर्धन, प्रत्यावर्तन एवं प्रत्यावर्तन कर सकने की विद्या उन्हें उपलब्ध हो गई है।

कैलीफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के डॉ० विलियम जेड्रेअर ने भविष्यवाणी की है कि ऐसे निरोधक तत्त्वों का 'जीन्स' में प्रवेश कराया जा सकेगा, जो पैतृक रोगों का उन्मूलन करके नई स्वस्थ स्थापना के लिए रास्ता साफ कर सकें। यह तो निवारण की बात हुई। इसका दूसरा पक्ष स्थापना का है। जिस प्रकार किसी अच्छे खेत में इच्छानुसार बीज बोकर अभीष्ट फल उगाई जा सकती है, उसी प्रकार परंपरागत अवरोधों को हटा सकने की सफलता के साथ एक नया अध्याय और जुड़ जाता है कि वंश तत्त्व में इच्छानुसार विशेषताओं के बीज बोये जा सकेंगे, जिससे अगली पीढ़ियों को वैसा ही उत्पन्न किया जा सके जैसा कि चाहा गया था।

ब्रिटेन की इंटरनेशनल साइंस राइटर्स एसोशियेसन के अध्यक्ष जी० आर० टेलर ने अपनी पुस्तक 'दि बायोलॉजिकल टाइम बम' में जीव विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि वह दिन दूर नहीं जब मनुष्य की

अभीष्ट जातियाँ शाक-भाजियों की तरह उगाई जा सकेंगी और उन्हें कलम लगाकर कुछ से कुछ बनाया जा सकेगा।

एक परिपुष्ट साँड़ द्वारा एक वर्ष में उपलब्ध होने वाले शुक्राणुओं से ५० हजार बच्चे उत्पन्न किये जा सकते हैं। ऐसा ही एक सीमा तक मादाएँ भी एकाधिक संतानें एक ही समय में उत्पन्न कर सकती हैं। डॉ० कार्लएक्सेल गेम्जेल और डॉ० डोनिनी ने ऐसे हारमोन ढूँढ़ निकाले हैं, जो नारी शरीर में प्रवेश कराने के उपरांत उसे एक साथ कई बच्चे उत्पन्न कर सकने में समर्थ बना सकते हैं। इनमें फोलीकल स्टीम्युलेटिंग हारमोन की चर्चा विशेष रूप से हुई है।

न्यूजीलैंड के आकलैंड नगर में शर्ले एन लासन नामक एक महिला ने एक साथ चार लड़कियाँ और एक लड़का प्रसव किया। इसी प्रकार स्वीडन के फालुन नगर में एक महिला करीन ओल्सेन ने भी एक साथ पाँच बच्चे जने। यह चमत्कार नव आविष्कृत हारमोनों के प्रयोग का था। जिनके गर्भाशय में पहले एक भी डिंब अंड नहीं था, उनमें एक साथ पाँच अंडों को उत्पन्न कर देना जीव-विज्ञान का एक विशिष्ट चमत्कार है।

यह उपलब्धियाँ संभावना का द्वार खोलती हैं कि मानव भ्रूण का पालन किसी उपयुक्त प्रकृति की पशु मादा के पेट में करा लिया जाए, इससे उस बच्चे में मनुष्य और पशु के सम्मिलित गुण विकसित हो जायेंगे। इन प्रयोगों से आरंभ में थोड़े से बच्चे बनाने में ही अधिक परिश्रम पड़ेगा। पीछे तो कृत्रिम गर्भाधान विधि से वे थोड़े ही बच्चे तरुण होकर सहस्रों बच्चे पैदा कर देंगे। एक स्वस्थ सांड के द्वारा जीवन भर का संचित शुक्र ५० हजार तक बच्चे पैदा कर सकता है। विशेष रासायनिक प्रयोगों से उत्तेजित मादा डिंबों द्वारा एक साथ पाँच तक संतानें उत्पन्न कराई जा सकती हैं। नई मनुष्य जाति को जल्दी बढ़ाने के लिए ऐसे ही तरीके काम में लाये जायेंगे, साथ ही पुरानी पीढ़ी को समाप्त करके उन सबका वंध्याकरण किया जायेगा। अन्यथा दोनों स्तर की संतानें बढ़ती

रहीं, तो फिर उनका संकरत्व होने लगेगा और वे वर्णसंकर न जाने क्या-क्या नई समस्याएँ उत्पन्न करेंगे ?

नई पीढ़ी के उत्पादन कोषों के मूल आधार तो मानवी जीव कोष ही रहेंगे, पर उनके साथ उस कृत्रिम जीवन प्रक्रिया को जोड़ दिया जायेगा, जो अभी-अभी मनुष्य के हाथ लगी है। रासायनिक सम्मिश्रण से नवीन जीवाणु बना सकने में सफलता प्राप्त करली गई है। पर वे अभी इस स्थिति में नहीं हैं कि पूर्ण प्राणी का स्थान ले सकें। इसके लिए उन्हें सुविकसित जीवन तत्त्व के साथ मिला देने से ही काम चलेगा। पुरातन और नवीन की कलम लगाकर ऐसे जीव कोष तैयार किये जाने की संभावना व्यक्त की गई है, जो इच्छित स्तर के मनुष्य रूप में विकसित हो सकें।

विश्वास किया जाता है कि इन प्रयत्नों के फलस्वरूप अबकी अपेक्षा निकट भविष्य में अभीष्ट परिष्कृत स्तर का मानवी उत्पादन किया जा सकेगा। शीत, उष्ण, पहाड़ी, रेतीले प्रदेशों में रह सकने योग्य स्थिति के जिस देश को जब जितने मनुष्यों की आवश्यकता पड़ा करेगी, तब वहाँ उतने बच्चे उस प्रकार के पैदा कर लिये जाया करेंगे। इतना ही नहीं आवश्यकतानुसार उस मानसिक स्तर की संतानें भी पैदा कर ली जाया करेंगी, जिनकी कि उन दिनों आवश्यकता पड़ेगी। कवि, साहित्यकार, गायक, शिल्पी, योद्धा, श्रमिक, वणिक, धर्माचार्य, दार्शनिकों की जब जहाँ जितनी आवश्यकता पड़े, तब वहाँ वे उत्पन्न हो जाया करेंगे और सामाजिक संतुलन बनाये रखा जा सकेगा।

अभिनव मनुष्य के निर्माण में, विज्ञान अपने ढंग से सोच और कर रहा है। उद्देश्य और पुरुषार्थ दोनों ही दृष्टि से इन प्रयत्नों की सराहना की जानी चाहिए, पर साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि मनुष्य पूर्णतया भौतिक तत्त्वों से विनिर्मित नहीं है, जिसे विद्युत् आवेशों, रस और रासायनिक प्रयोगों से मात्र प्रयोगशालाओं और उपकरणों के माध्यम से बदला या बनाया जा सके। उसमें एक स्वतंत्र चेतना का भी अस्तित्व है। उस तथ्य को

भुला नहीं देना चाहिए। खोट शरीरों में उतना नहीं जितना उस चेतना में घुस पड़ी आस्थाओं का है। मूलतः वे आस्थाएँ ही गड़बड़ाकर शारीरिक-मानसिक विकृतियाँ उत्पन्न करती हैं। यह विकृतियाँ चिंतन से उत्पन्न होती हैं न कि विद्युत् आवेशों और रासायनिक पदार्थों की घट-बढ़ से। मनुष्य की वर्तमान दुर्गति का कारण वह चिंतन भ्रष्टता ही है, जिसने मनुष्य को दुर्भावग्रस्त और दुष्प्रवृत्ति संलग्न निकृष्ट कोटि का नर-पशु बनाकर रख दिया है।

सुधार इस चिंतन स्तर का भी होना चाहिए अन्यथा वंश परंपरा के खोट हटा देने अथवा रक्त-मांस का स्तर बदल देने से अधिक से अधिक इतना ही हो सकेगा कि शारीरिक एवं बौद्धिक दृष्टि से नई पीढ़ी समय की परिस्थिति के अनुरूप ढल जाय। आस्थाओं की उत्कृष्टता के बिना मनुष्य 'यंत्र मानव' भर रह जाएगा। उसमें महामानवों का गौरवास्पद स्तर बनाये रहने की और संसार में सद्भावनाओं का स्वर्गीय वातावरण बनाने की क्षमता कैसे उत्पन्न होगी ? और इसके बिना वह क्रियाशील किंतु भावरहित पीढ़ी संसार के दिव्य सौंदर्य, संरक्षण, अभिवर्धन कैसे कर सकेगी ? इसके बिना यह विश्व मात्र हलचलों का केंद्र ही बनकर रह जायगा।

अभिनव मनुष्य के निर्माण में आध्यात्मिक क्षेत्र का भी समुचित योगदान रहना चाहिए। जन्म और जननी का उच्च आदर्शवाद व्यक्तित्व विनिर्मित किया जाय। गर्भकाल से लेकर युवावस्था आने तक परिष्कृत परिस्थितियों में विकसित होने का बालक को अवसर दिया जाय तभी उसकी आत्माओं में उत्कृष्टताओं का समावेश होगा। भौतिक दृष्टि से नई पीढ़ी को समुन्नत स्तर का आत्मिक दृष्टि से उसे समुन्नत बनाने के लिए अध्यात्म विज्ञानी अग्रसर हों। तब दोनों के समन्वित प्रयत्न ही उस स्वप्न को साकार कर सकेंगे, जिसमें समुन्नत स्तर के मनुष्य के निर्माण की आशा की गई है।

कायकलेवर में विद्यमान शिक्षक

अंतरंग जीवन की विचित्रतायें इतनी अधिक हैं, जिन्हें देखने-समझने में बुद्धि चकराती है। उसमें जो कुछ देखना-ढूँढ़ना चाहें, सब कुछ मिल जाएगा।

अपने इस शरीर में ऐसे संत और ऋषि भी विद्यमान हैं, जो एक प्रकार से अपना सर्वस्व समर्पण करके ही इस काया को इस योग्य बनाये रख रहे हैं कि वह जीवित और समर्थ कही जा सके। पर बदले में कुछ भी लेने की न उनकी इच्छा होती है न लेते ही हैं।

उन ऋषियों का नाम रसायनशास्त्रियों की परिभाषा के अनुसार 'ऐंजाइम' है। यों मोटेतौर से समझा यह जाता है कि हृदय, फुफ्फुस, आमाशय, मस्तिष्क, वृक्क, यकृत आदि अवयवों के क्रिया-कलाप पर जीवन निर्भर है। महत्त्व और श्रेय इन्हें ही मिलता है और इनकी खुराक जुटाने के लिए अन्न, जल, श्वांस-निःश्वास, आच्छादन आदि के साधन जुटाने पड़ते हैं। यह साधन न मिलें तो पारिश्रमिक न मिलने पर नौकरी छोड़ देने वाले मजदूरों की तरह वे भी हड़ताल कर सकते हैं और जिंदगी का सरंजाम देखते-देखते बिखर सकता है।

दूसरी ओर वे 'ऐंजाइम' घटक हैं, जो कभी किसी प्रकार की खुराक ग्रहण नहीं करते। दूसरों पर तनिक भी निर्भर नहीं हैं, आत्मबल से ही अपनी सत्ता टिकाये हुए हैं। इनकी जानकारी भी मोटेतौर पर सब शरीर रचना जानने वालों को नहीं होती। यश और श्रेय की न उन्हें आकांक्षा है और न मिलता ही है। मात्र कर्त्तृत्व ही इनके सामने सब कुछ है। थकने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। जबकि जीवाणु, कोशिकाएँ, ऊतक निरंतर मरते जाते रहते हैं, तब यह मृत्युजयी देवताओं की तरह अपने स्वरूप में अवस्थित रहकर बिना परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव किये निरंतर एकनिष्ठ भाव से अपने कर्तव्य की दीपशिखा यथावत् सँजोये रहते हैं।

भौतिक विज्ञान की परिभाषा के अनुसार जीवन और कुछ नहीं शरीर की भीतरी रासायनिक प्रक्रियाओं का खेल मात्र है। यों देह के भीतर मुँह, आमाशय, आँतें, हृदय, फुफ्फुस, वृक्क, यकृत आदि अवयव ही मोटेतौर पर काम करते दिखाई देते हैं। रक्त संचार, श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन, तंतु चेतना जैसे सूक्ष्म क्रियाकलापों को भी देखा-समझा जाता है। विभिन्न अवयवों से स्रवित होने वाले पाचक रस, हारमोन ग्रंथियों से टपकने वाले स्राव, रक्त के सम्मिश्रित जीवाणु ऊतक कोशिकायें आदि भी अपना-अपना कार्य करके जीवन की स्थिरता में सहायता पहुँचाते हैं। इस सारे क्रियाकलाप को शक्ति देने वाले एक और प्रकार के घटक काम करते हैं, जिनके संबंध में अभी बहुत कम जानकारी उपलब्ध हो सकी है। इन घटकों का नाम है—ऐंजाइम।

सूक्ष्म-दर्शक यंत्र से ही दीख पड़ने वाले जीवाणु—बैक्टीरिया—भी इन एंजाइमों के बलबूते ही जीवित रह रहे हैं। इन घटकों के अतिरिक्त शरीर का हर पदार्थ घटता-बढ़ता रहता है, पर यह अपनी स्थिरता अक्षुण्ण ही बनाये रहते हैं। कोशिकाओं को ऑक्सीजन न मिले तो वे जीवित नहीं रह सकतीं। पर एक यह संत ऐंजाइम हैं कि निरंतर सेवा संलग्न रहते हुए भी आहार तो दूर इस काय-कलेवर में साँस तक का एक कण भी स्वीकार नहीं करते। यह कई जाति के होते हैं। हर जाति अपनी निर्धारित कार्य-पद्धति में ही संलग्न रहती है। कोई वर्ग किसी दूसरे के काम पर हाथ नहीं डालता। वर्ण धर्म की तरह इन्हें अपना निर्धारित कार्य ही प्रिय है। जहाँ अन्य जीवाणुओं में परिवर्तन-प्रत्यावर्तन होता रहता है, वहीं इनकी सीमा मर्यादा में कभी राई-रत्ती अंतर नहीं आता।

जो भोजन पेट में जाता है, उसे वर्गीकृत करके पाचन योग्य यह ऐंजाइम ही बनाते हैं। यदि यह न होते तो रोटी और पत्थर के टुकड़े में कोई अंतर न रहता। तब हम पत्थर की तरह रोटी भी हजम नहीं कर सकते थे। जो अवयव इन घटकों की प्रेरणा से पाचन रस उत्पन्न करते हैं, उन्हें पैंक्रियाज-जठराग्नि कहते

है—अध्यात्म भाषा में इन्हें वैश्वानर कहा जाता है। मुख की लार में 'टायलिन' आमाशय में 'पेप्सिन' और 'रेनिन' जैसे पाचक-तत्त्वों के रूप में इन ऐंजाइमों का अस्तित्व देखा जा सकता है। खाद्य-पदार्थों को शरीर में घुल-मिल जाने योग्य बनाने का कार्य इन्हीं का है। आमाशय में तीन ऐंजाइम होते हैं—(१) ट्रिप्सिन (२) अमाइलीप्सिन (३) लाइपेस। इनके द्वारा किया गया परिवर्तन अन्न को रस रक्त में बदलने की क्रिया को यदि कोई बारीकी से देख-समझ सके तो उसे आश्चर्यचकित रह जाना पड़े।

सस्ते वाले अन्न का बहुमूल्य रक्त में बदल जाना कितना अद्‌भुत है। लाल रंग का पानी-रक्त विकसित होते-होते 'ओजस्' के मेधा और प्रज्ञा का रूप धारण कर लेता है। यह प्रक्रिया आश्चर्यचकित करने वाली है। पर उसे संपन्न कौन करता है ? इस परिवर्तन का आधार कहाँ है ? यह ढूँढ़ने के लिए हमें इन 'ऐंजाइमों' के सामने ही नतमस्तक होना पड़ेगा, जिनके अनुग्रह से कुछ वस्तुएँ महान् बनती चली जाती हैं। वे पूर्णता प्राप्त तत्त्वदर्शियों की तरह अपनी प्रगति की बात नहीं सोचते, वरन् दूसरों का उन्नयन, अभिवर्धन ही उनका लक्ष्य है और उस प्रक्रिया को संपन्न करते हुए-दूसरों को विकसित देखते हुए—वे इतने ही संतुष्ट रहते हैं, मानो सब कुछ उन्हें ही मिल रहा हो, उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म की तरह यह साक्षी, द्रष्टा निर्विकार रहते हुए भी लोक-मंगल के कर्तव्य का अथक परिश्रम के साथ निर्वाह करते हैं।

इन घटकों की सक्रियता चेहरे पर तेजस्विता होकर चमकती है। यह शिथिल पड़ते हैं तो सारा शरीर शिथिल, तेजहीन और हारा-थका-सा दीखता है। भीतरी और बाहरी अंग-अवयव अपना काम ठीक तरह नहीं कर पाते और पग-पग पर लड़खड़ाते दीखते हैं। इनकी कमी मांस-पेशियों में ऐसी ऐंठन उत्पन्न करती है, जिसका अभी कोई इलाज नहीं निकल सका।

इन घटकों के सहायक सेक्रेटरी भी होते हैं। जिन्हें 'फास्फेट यौगिक' कहते हैं। विटामिनों को इसी वर्ग में रखा जा सकता है।

पारा-साइनाइड जैसे विष इनका हनन भी कर देते हैं। इनकी अनुपस्थिति में जीवन रक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मानव-जीवन जैसे अद्‌भुत संस्थान की जितनी महत्ता है उससे भी अधिक इन ऐंजाइम घटकों की है, स्वयं निर्जीव होते हुए भी ये प्रभावी जीवन संचार कर सकने में समर्थ हैं।

शिक्षा, उपदेश, मार्ग-दर्शन करने के लिए बाहर जाने की जरूरत नहीं। सद्‌गुरु कितने ही रूप में हमारे काय-कलेवर में विराजमान हैं और अपना प्रशिक्षण निरंतर जारी रख रहे हैं। उचित और अनुचित का भेद करने वाला परामर्श अपना अंतरात्मा निरंतर देता रहता है। सत्कर्म करते हुए आत्म-संतोष, दुष्कर्म करते हुए आत्म धिक्कार की जो भावना उठती रहती है, उसे ईश्वरीय प्रशिक्षण-अंतरात्मा का उपदेश कहा जा सकता है। काश, हम कुछ सुनने-सीखने की—ग्रहण करने-अपनाने की स्थिति में रहे होते तो हेय जीवन न जीते, तब महानता ही हमारी गतिविधियों से ओत-प्रोत होती और नर-नारायण जैसी स्थिति में रह रहे होते।

परमात्मा ने मनुष्य शरीर को इतना समर्थ ,और सक्षम बनाया है कि वह न केवल आत्मनिर्भर रह सके, वरन् अपनी समस्याओं का स्वयं भी समाधान कर सके। इतना ही नहीं—शरीर में उत्पन्न होने वाली विकृतियों का संशोधन-परिष्कार भी काय-कलेवर में विद्यमान चेतना स्वयं अपने आप करती रहती है। इस प्रचंड क्षमता से लाभ उठाना ही बुद्धिमत्ता है।

❑ ❑